पञ्चमोऽध्यायः

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

गोतम का समर्पण

अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वाऽतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वाऽग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा॥१॥

'गोतम' चतुर्थ अध्याय के अन्तिम मन्त्र का ऋषि था। प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भिक १४ मन्त्रों का ऋषि भी यही है। यह प्रभु से कहता है कि १. हे प्रभो! आप **अग्नेः**=अग्नि के **तनूः**=विस्तार करनेवाले **असि**=हैं। मेरे जीवन में अग्नि=उत्साह का सञ्चार करनेवाले आप ही हैं। इसीलिए **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। २. **सोमस्य तनूः असि**=मुझमें सोमशक्ति का विस्तार करनेवाले आप हैं, अतः **विष्णवे त्वा**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ३. **अतिथेः**=आपकी ओर निरन्तर चलनेवाले उपासक के **आतिथ्यम् असि**=आप शरीरबद्ध आतिथ्य हैं। आप स्वयं ही उसे प्राप्त हो जाते हैं, अतः **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ४. **श्येनाय त्वा**=तुझ (श्यैङ् गतौ) गतिवाले के लिए, **त्वा सोमभृते**=निरन्तर गतिशीलता के द्वारा सोम का भरण करनेवाले तेरे लिए और **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ५. **अग्नये त्वा**=(अगि गतौ) सबको अग्रगति देनेवाले और इस अग्रगति के साधनरूप में ही **रायस्पोषदे**=धन का पोषण प्राप्त करानेवाले **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक परमात्मा के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ६. ऊपर मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि हृदय में भी व्याप्त उस प्रभु के प्रति आत्मार्पण करने से ही हमारा जीवन (क) अग्नितत्त्वप्रधान=उत्साहमय (ख) सोम=वीर्यशक्ति का विस्तार करनेवाला (ग) प्रभु के प्रति निरन्तर चलनेवाला (घ) गतिशील (ङ) शक्तिमय और अन्त में सांसारिक उन्नति के लिए आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला होगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम उत्साहमय, शक्तिशाली, प्रभुप्रवण, कर्मनिष्ठ व श्रीसम्पन्न हों।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुर्यज्ञः। छन्दः—आर्षीगायत्री[क], आर्चीत्रिष्टुप्[ख]। स्वरः—षडजः[क], धैवतः[ख]॥

प्रभु की गोतम को प्रेरणा

[क]अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थऽउर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवाऽअसि।
[ख]गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि
जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि॥२॥

१. प्रभु आत्मार्पण करनेवाले गोतम को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **अग्नेः जनित्रम् असि**=तू अपने में अग्नि का उत्पन्न करनेवाला है—अर्थात् तेरा जीवन उत्साहमय और अतएव अग्रगतिवाला है। २. घर में पति-पत्नी तुम दोनों ही **वृषणौ स्थः**=शक्तिशाली होओ। पिछले मन्त्र में 'अग्नेः तनूः असि' के बाद 'सोमस्य तनूः असि' यह क्रम था। प्रस्तुत मन्त्र में भी अग्नि के बाद शक्ति का उल्लेख हुआ है। सोम की रक्षा करके ही ये वृषन्=

शक्तिशाली बनते हैं। ३. हे पत्नि! तू **उर्वशी असि**=(उरुवशी) अपने पर खूब ही नियन्त्रण रखनेवाली है। **आयुः असि**=मन को वश में रखने के लिए ही (इ=गतौ) निरन्तर गतिशील है और **पुरुरवा असि**=खूब ही प्रभु के गुणों का गान (रु शब्दे) करनेवाली है, अथवा (पृ पालनपूरणयोः) उस प्रभु का गुणगान करनेवाली है जो पालन व पूरण करनेवाला है, जिस गुणगान से जीवन में वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और न्यूनताओं का सदा दूरीकरण होता रहता है। ४. **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=गायत्र छन्द से (गयाः प्राणाः, त्र=रक्षण, छन्द=इच्छा) प्राणशक्ति के रक्षण की इच्छा से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरा हृदय-सरोवर इस प्राणशक्ति के रक्षण की इच्छा से आलोडित हो उठता है, अर्थात् मैं तेरे हृदय में प्राणशक्ति-रक्षण की प्रबल भावना को पैदा करता हूँ। ५. **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=त्रैष्टुभ छन्द से (त्रि स्तुभ) काम-क्रोध व लोभ को रोकने की भावना से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरे हृदय में इन तीनों को रोकने की प्रबल भावना को जन्म देता हूँ। ६. **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=जागत छन्द से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरे अन्दर जगती के हित की प्रबल भावना को उत्पन्न करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने को उत्साहमय व शक्तिशाली बनाएँ। प्राणशक्ति की वृद्धि करें, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठें और लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पति-पत्नी कैसे बनें?

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥३॥

१. प्रभु कहते हैं कि **नः**=मेरी प्राप्ति के लिए **समनसौ**=समान मनवाले **भवतम्**=होओ। जो पति-पत्नी परस्पर विरुद्ध मनवाले होते हैं उनके जीवन में प्रतिक्षण अशान्ति चलती है, और इस अशान्त अवस्था में उन्होंने प्रभु को क्या प्राप्त करना? २. **सचेतसौ**=तुम समान संज्ञानवाले बनो। प्रभु को प्राप्त करने के इच्छुक पति-पत्नी को चाहिए कि वे नैत्यिक स्वाध्याय से अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त रक्खें और संज्ञानवाले हों। दोनों समान मनवाले हों—दोनों की इच्छा ज्ञान-प्राप्ति की हो। ज्ञान प्राप्त करके ३. **अरेपसौ** =आप दोनों निर्दोष **भवतम्**=होओ। (रेपस्=Sin) ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला कुछ है ही नहीं। यह ज्ञान तुम्हारे सब दोषों को भस्म करनेवाला हो। इस प्रकार निर्दोष बनकर ४. **यज्ञं मा हिंसिष्टम्**=अपने जीवन में यज्ञ को हिंसित मत होने दो। आपका जीवन निरन्तर यज्ञमय हो। सौ-के-सौ वर्ष क्रतु (यज्ञ)-मय बिताकर 'शतक्रतु' बनने का प्रयत्न करो। ५. इस निरन्तर यज्ञशीलता से **यज्ञपतिम्**=उस यज्ञों के पति (रक्षक) प्रभु को **मा हिंसिष्टम्**=मत हिंसित करो। उसे भूल न जाओ। उसे भूलकर तो तुम अपने को ही 'यज्ञपति' समझने लगोगे। तुम्हें इन यज्ञों के कर्त्तव्य का गर्व हो जाएगा, और यह गर्व उन यज्ञों को आसुर यज्ञ बना देगा। ६. इन यज्ञों के लिए तुम **जातवेदसौ**=(वेदस्=Wealth) उत्पन्न धनवाले बनो, अर्थात् यज्ञों के निष्पादन के लिए आवश्यक सम्पत्ति का सम्पादन करनेवाले बनो। ७. उस सम्पत्ति से तुम **शिवौ**=सबका कल्याण करनेवाले बनो। तुम्हारा यह धन भूखे को रोटी देनेवाला व प्यासे को पानी पिलानेवाला हो। यह धन यज्ञों में विनियुक्त होकर सभी का हित-साधन करे। इस प्रकार के बनकर **अद्य**=आज ही **नः भवतम्**=तुम हमारे हो जाओ। प्रभु-गृह्य बन जाओ।

भावार्थ—प्रभुप्रवण लोग 'समान मनवाले, संज्ञानवाले, निर्दोष, यज्ञशील, यज्ञों का गर्व न करनेवाले, धनसम्पादक व कल्याणकर' होते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अग्नि-प्रवेश

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳसदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा॥४॥

पिछले मन्त्र में 'नः भवतम्' शब्दों में 'प्रभु का बनने' का उल्लेख था। यह प्रभु का बननेवाला व्यक्ति १. **अग्नौ प्रविष्टः**=उस अग्रेणी प्रकाशमय प्रभु में प्रविष्ट हुआ-हुआ **अग्निः**=स्वयं भी अग्नि-सा बना हुआ **चरति**=अपनी क्रियाओं को करता है। प्रभु 'अग्नि' हैं। यह भक्त भी प्रभु में प्रविष्ठ होकर अग्नि ही बन जाता है। अग्नि बनकर यह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता चलता है। २. यह तो अब **ऋषीणां पुत्रः**=(ऋषिर्वेदः) वेदों का पुत्र होता है। वेदमन्त्रों में दिये गये ज्ञान से अपने को पवित्र करता है (पुनाति) और रोगों व वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता है (त्रायते)। ३. **अभिशस्तिपावा**=यह सब प्रकार की हिंसाओं से अपने को सुरक्षित रखता है। अहिंसा ही यम-नियमों में सर्वप्रथम है, सब यम-नियमों का यह केन्द्र है। ४. प्रभु कहते हैं कि **सः नः**=वह तू हमारा बना हुआ, प्रकृति के भोगों में न फँसकर प्रभुप्रवण बना हुआ **स्योनः**=सबको सुख देनेवाला **सुयजाः**=उत्तम यज्ञोंवाला **इह**=इस जीवन में **यज**=यज्ञशील बन। तुझमें 'देवपूजा, सङ्गतीकरण व दान' की वृत्ति हो। ५. **देवेभ्यः**=देवों के लिए **सदम्**=सदा **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करता हुआ **हव्यं स्वाहा**=सुहुत हवि को देनेवाला हो। गीता के शब्दों में **'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'**—देवताओं से प्राप्त इन सब भोग्य पदार्थों को देवों के लिए न देकर स्वयं ही खा जानेवाला चोर है, अतः नैत्यिक अग्निहोत्र के द्वारा 'देवयज्ञ' करके ही खाना उचित है।

भावार्थ—प्रभुभक्त अग्निरूप प्रभु में प्रवेश करके अग्नि-सा ही बन जाता है—'शुद्ध'। अब इसकी सब क्रियाएँ पवित्र यज्ञात्मक होती हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—विद्युत्। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्[क], भुरिगार्षीपङ्क्तिः[ख]। **स्वरः**—ऋषभः[क], पञ्चमः[ख]॥

अहिंसा-सत्य-स्थित

[क]आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वनऽओजिष्ठाय।
[ख]अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपाऽअनभिशस्तेन्यमज्जसा सत्यमुपगेषꣳस्विते मा धाः॥५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार निरन्तर देवयज्ञ करनेवाला भक्त कहता है कि **आपतये**=सर्वत्र गतिवाले **परिपतये**=सर्वत्र व्याप्तिवाले **त्वा**=आपके लिए मैं इस देवयजन को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। 'आपति व परिपति' आपको प्राप्त कर सकूँ, इस उद्देश्य से ही मैं देवयज्ञ में प्रवृत्त होता हूँ। २. आपको प्राप्त करने के लिए जो आप **तनू-नप्त्रे**=मेरे शरीर को न गिरने देनेवाले हैं। प्रभुप्रवण व्यक्ति भोगासक्त नहीं होता और परिणामतः भोगों का शिकार भी नहीं होता अथच पतित नहीं होता। ३. **शाक्वराय**=(शक्वरी=बहु, बाह

प्रयत्ने) मैं उस प्रभु को प्राप्त करता हूँ जो शक्तिशाली हैं, सर्वत्र शक्तिशाली कर्म करनेवाले हैं **शक्वने**=सर्वशक्तिमान् हैं **ओजिष्ठाय**=अतिशेयन ओजस्वी हैं। प्रभुभक्त बनने पर मेरे कर्म भी शक्तिशाली होते हैं, मैं ओजस्वी बनता हूँ।

४. **अनाधृष्टम् असि**=हे प्रभो! आप कभी धर्षित होनेवाले नहीं—आप सदा अपराजित रहते हो। आपके उपासक **देवानाम्**=देवों का **ओजः**=बल भी **अनाधृष्टम्**=कभी हिंसित न होनेवाला और साथ ही **अनभिशस्ति**=हिंसा न करनेवाला होता है। देव शक्तिशाली होते हैं। शक्ति के कारण वे पराजित नहीं होते, परन्तु वे औरों की हिंसा भी नहीं करते। ५. हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं **सत्यम्**=सत्य को **उपगेषम्** =प्राप्त होऊँ। उस सत्य को, जो **अनभिशस्तेन्यम्**=सब हिंसाओं से रहित है तथा **अञ्जसा**=कौटिल्यशून्य है, अर्थात् मैं सदा सरलभाव से सत्य को अपनानेवाला बनूँ—मेरा वह सत्य किसी की हिंसा का कारण न हो। ६. हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **स्विते**=(सु इते) उत्तम आचरण में स्थापित करें। मेरे दुरित दूर हों—दुरितों से विपरीत स्वितों (दुर्+इत, सु+इत) को मैं अपनानेवाला बनूँ। यह ओज **अभिशस्तिपा**=हिंसा से रक्षा करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक सत्यभाषण करता है—उसका सत्य किसी की हिंसा नहीं करता। यह सदा स्वित=उत्तम मार्ग पर चलता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्रत-पालन

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियꣳसा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः॥६॥

१. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **व्रतपाः**=आप व्रतों के पालन करनेवाले हो। **त्वे**=तेरे उपासक भी **व्रतपाः**=व्रतों के पालने करनेवाले होते हैं, अर्थात् वे भी आपकी भाँति अपने व्रतों पर दृढ़ रहते हैं। वस्तुतः 'व्रतपा' बनकर ही ये 'व्रतपा' आपको प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. उस समय 'उपासक भी व्रतपा आप भी व्रतपा' इस प्रकार दोनों एक-से हो जाते हो। **या तव तनूः**=जो तेरा स्वरूप है **इयं सा मयि**=वह मुझमें होता है **उ**=और **या**=जो (यो=या+उ) **मम तनूः**=मेरा शरीर है **सा त्वयि**=वह आपमें स्थित होता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि 'मैं-तू और तू-मैं' हो जाता हूँ **(यदि वा घा स्याहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्)** इस प्रकार हमारा अभेद हो जाता है। ३. अब हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **नौ**=हम दोनों के **व्रतानि सह**=व्रत साथ-साथ हों, अर्थात् मेरे व्रत वही हों जो आपके व्रत हैं। आपकी भाँति ही मैं 'मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा' आदि वृत्तियों से युक्त होऊँ। ४. **दीक्षापतिः**=व्रत-संग्रहणों के रक्षक प्रभु **मे दीक्षाम्**=मुझे व्रतसंग्रहण के लिए **अनुमन्यताम्**=अनुमति दें, अर्थात् मेरा जीवन सदा व्रतसंग्रहणवाला हो और इन व्रतों के पालन के लिए **तपस्पतिः**=वे तप के पति प्रभु मुझे **तपः**=तप की **अनुमन्यताम्**=अनुमति दें, अर्थात् मेरा जीवन तपस्वी हो, जिससे मैं अपने व्रतों का पालने करनेवाला बनूँ। तपस्या का अभाव ही व्रतभङ्ग का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु 'व्रतपा' हैं। मैं भी 'व्रतपा' बनूँ। व्रतपा बनकर ही मैं प्रभु का अभिन्न मित्र बनता हूँ। व्रतों के पालन के लिए मेरा जीवन तपस्वी हो।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—आर्षीबृहती[क], आर्षीजगती[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], निषादः[र]॥

धन-मेधा-शक्ति

[क]अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे। आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व। [र]आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्न्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय। एष्टा रायः प्रेषे भगायऽऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम्॥७॥

गत मन्त्र के व्रतपालन व तपस्या का आधार 'शरीर में सोम की रक्षा' है, अतः कहते हैं कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों के उत्पन्न करनेवाले सोम (वीर्यशक्ते)! **ते अंशुः अंशुः**=तेरा एक-एक कण **एकधनविदे**=ज्ञान-रूप मुख्य (एक) धन को प्राप्त करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आप्यायताम्**=वर्धन का कारण बने (ओप्यायी वृद्धौ)। हे सोम! **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तुभ्यं प्यायताम्**=तेरे लिए वृद्धि का कारण हो, **त्वम्**=तू **इन्द्राय प्यायस्व**=उस जितेन्द्रिय पुरुष की वृद्धि का कारण बन। रक्षा किया हुआ सोम रक्षा करनेवाले की वृद्धि का कारण बनता है। यह सोम हमें उस सोम=शान्त ब्रह्म का सखा बनाता है। इस सोम के द्वारा हम उस सोम को प्राप्त करते हैं।

२. हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! **अस्मान् सखीन्**=हम मित्रों को **सन्न्या**=संभजनीय (सेवनीय) धन की प्राप्ति से **मेधया**=बुद्धि से **आप्याययः**=बढ़ाइए, जिससे **स्वस्ति**=हमारे जीवन की स्थिति उत्तम हो। इसी उत्तमता के लिए हे **देव सोम**=दिव्य गुणों के उत्पादक सोम! **ते सुत्याम्**=तेरे सवन को **अशीय**=मैं प्राप्त करूँ, अर्थात् मैं सोम को अपने में उत्पन्न करूँ (सुत्याम्) और उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करूँ (अशीय)।

३. **आ इष्टा रायः**=हमें इष्ट धन सर्वथा प्राप्त हों। **प्र इषे**=हम अन्न-प्राप्ति के लिए आगे बढ़ें। **भगाय** =हम ज्ञानादि ऐश्वर्यों के लिए निरन्तर बढ़ें। ४. **ऋतवादिभ्यः**=जो अपने जीवन से ऋत का कथन करते हैं, अर्थात् जिनका जीवन बड़ा नियमित है, उनसे **ऋतम्**=हम ऋत का ग्रहण करें। उनका अनुकरण करते हुए ऋत का पालन करनेवाले बनें।

५. **द्यावापृथिवीभ्यां नमः**=हम द्युलोक से पृथिवीलोक तक सभी के लिए नमस्कार करते हैं। सज्जनों को ही नहीं दुर्जनों को भी 'नमः' कहते हैं। **'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्'** इस सूक्ति को हम भूलते नहीं। दुर्जन को विरोधी बनाना व्यर्थ की अशान्ति मोल लेना है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करते हैं, परिणामतः धन, शक्ति व मेधा को प्राप्त करते हैं। हमारा जीवन ऋत का पालन करनेवाला होता है। हम किसी के भी साथ व्यर्थ विवाद के झगड़े में नहीं पड़ते।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीबृहती[क], निचृदार्षीबृहती[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], निषादः[र]॥

'अयःशया-रजःशया-हरिशया तनूः'

[क]या तेऽअग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा। [र]या तेऽअग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा। [ड]या तेऽअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा॥८॥

१. गत मन्त्र में सोम=वीर्यशक्ति का उल्लेख था। यही वीर्य शरीर को 'पत्थर (अश्मा) व वज्र-(steel अयः)'-तुल्य बनाता है, मन को उत्साह-सम्पन्न करके नाना प्रकार के कर्मसंकल्पों से भरता है और मस्तिष्क को दुःखों का हरण करनेवाले ज्ञान से भरता है। शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से उन्नत होकर यह सोम के आप्यायनवाला व्यक्ति बड़ी मधुर व विनम्र वाणी बोलता है। इसकी वाणी में उग्रता व अहंकार की झलक नहीं होती। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=(वीर्यं वा अग्निः-तै० १।७।२।२) सब उन्नतियों के साधक सोम (वीर्य)! **या**=जो **ते**=तेरा **अयःशया**=इस वज्रतुल्य शरीर में रहनेवाला **तनूः**=रूप है **वर्षिष्ठा**=जो सब सुखों की वर्षा करनेवाला है और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित होनेवाला है, वह **उग्रं वचः**=उग्र वचन को हमसे दूर करे और **त्वेषं वचः**=चमकते हुए गर्वपूर्ण वचनों को **अपावधीत्**=सुदूर नष्ट करे। **स्वाहा**=(सु आह) यह बात सचमुच सुन्दर है। सोम की रक्षा से शरीर दृढ़ बनता है, नीरोगता का आनन्द प्राप्त होता है, साथ ही मन में उथलापन-खिझ आदि उत्पन्न नहीं होते। यह पूर्ण स्वस्थ पुरुष न तो कटु (उग्रम्) शब्द बोलता है और न ही वह घमण्ड करता (त्वेषम्) है। २. हे **अग्ने**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरा **रजःशया**=हृदयान्तरिक्ष (रजः) में रहनेवाला **तनूः**=रूप है, वह **वर्षिष्ठा**=सुखों की वर्षा करनेवाला और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित तेरा रूप **उग्रं वचः अपावधीत्**=उग्र वचनों को मुझसे दूर करे, **त्वेषं वचः अपावधीत्** =अहंकार से दीप्त वचनों को हमसे दूर करे। सोम की रक्षा से हृदय सदा उत्तम कर्मों की भावना से भरा रहता है। उस हृदय में किसी प्रकार की कटुता व किसी प्रकार का गर्व नहीं होता। ३. हे **अग्ने**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरा **तनूः**=रूप **हरिशया**=सर्वदुःखहर ज्ञान में निवास करता है, जो **वर्षिष्ठा**=सुखों की वर्षा करनेवाला है और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित है, वह **उग्रं वचः अपावधीत्**=कटुवचनों को दूर करे तथा **त्वेषं वचः अपावधीत्**=अहंकार-दीप्त वचन को दूर करे। वस्तुतः सोम वर्षिष्ठ होकर हमारे मनों को आनन्दमय बनाता है और हमसे कटुवचनों को दूर करता है। यह सोम गह्वरेष्ठ होकर हमें गम्भीर बनाता है और हमें अभिमानपूर्ण वचनों से दूर करता है।

भावार्थ-सोम से हमारा शरीर वज्रतुल्य बने, मन शिवसंकल्पवाला हो और मस्तिष्क दुःखहर ज्ञान से परिपूर्ण हो। हम न कटु वचन बोलें न ही अभिमानपूर्ण बातें करें।

ऋषिः-गोतमः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-भुरिगार्षीगायत्री[१], भुरिग्ब्राह्मीबृहती[२], निचृद्ब्राह्मीजगती[३], याजुष्यनुष्टुप्[४]। **स्वरः**-षड्जः[१], मध्यमः[२], निषादः[३], गान्धारः[४]॥

प्रथम-द्वितीय-तृतीय पृथिवी में

[१]तप्तायनी मेऽसि वित्तायनी मेऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात्। [२]विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि यो ऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना [३]नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे। [४]अनु त्वा देववीतये॥९॥

१. गत मन्त्र में सोम को अग्नि शब्द से स्मरण करके उसके तीन तनुओं का उल्लेख किया था। उसी तनू को सम्बोधित करके कहते हैं कि तू **मे**=मेरी **तप्तायनी**=तप्तों को शरण देनीवाली **असि**=है (तप् भाव में क्त प्रत्यय)। जब कोई भी रोग मुझपर आक्रमण

करता है उस समय तू ही मेरी रक्षा करती है। तू **मे** =मुझे **वित्तायनी**=सब वित्तों को प्राप्त करानेवाली है। तू मुझे सब आवश्यक धन प्राप्त करने योग्य बनाती है। तू **मा**=मुझे **नाथितात्**=तापों से **अवतात्**=बचा, **मा**=मुझे **व्यथितात्**=अभावजनित पीड़ाओं से **अवतात्**=बचा। वस्तुतः यह 'तनू' तप्तायनी होने से मुझे नाथितों=उपतापों से बचाती है और 'वित्तायनी' होने से व्यथित नहीं होने देती। २. इस प्रकार यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=(नभ हिंसायाम्) सब रोगों व बुराइयों के संहार को तथा **नाम**=नम्रता व विनीतता को **विदेत्**=हमें प्राप्त कराए। हे **अग्ने!** वीर्यशक्ते! **अङ्गिरः** =अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाली! तू **आयुना**=दीर्घजीवन से तथा **नाम्ना**=नम्रता व विनीतता से **इहि**=हमें प्राप्त हो। तुझे प्राप्त करके हम दीर्घजीवन प्राप्त करें और नम्र बनें। हे **अग्ने**=वीर्य! **यः** =जो तू **अस्यां पृथिव्याम् असि**=इस शरीर में है और **यत् ते**=जो तेरा **अनाधृष्टम्**=न धर्षण के योग्य-न पराजित होनेवाला **नाम**=नम्रता का साधक, **यज्ञियम्**=पवित्र करनेवाला स्वरूप है **तेन**=उस कारण से ही **त्वा दधे**=मैं तेरा धारण करता हूँ। हम सोम को शरीर में धारण करें, जिससे हमारा शरीर रोगों से न दबे, हमें अभिमान न हो और हम पवित्र बने रहें।

३. यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=सब मलिनताओं की हिंसा को तथा **नाम**=नम्रता को **विदेत्**=प्राप्त कराए। हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक **अङ्गिरः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले वीर्य! तू **आयुना** =दीर्घजीवन से व **नाम्ना**=नम्रता व यश से **इहि**=हमें प्राप्त हो। **यः**=जो तू **द्वितीयस्यां पृथिव्याम् असि** =इस द्वितीय शरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर में स्थित है अथवा मुख्यरूप से हृदयान्तरिक्ष में स्थित है, **यत् ते**=जो तेरा **अनाधृष्टम्**=न धर्षित होनेवाला **नाम**=नम्रतावाला **यज्ञियम्**=पवित्रीकरणवाला स्वरूप है **तेन**=उसी के कारण मैं **त्वा दधे**=तुझे धारण करता हूँ। ४. यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=सब कुविचारों की हिंसा को तथा **नाम**=नम्रता को **विदेत्**=प्राप्त कराए। हे **अग्ने**=सब प्रकाशों को प्राप्त करानेवाले सोम! **अङ्गिरः**=अङ्ग-रस के साधक सोम! **आयुना**=उत्तम जीवन से तथा **नाम्ना**=नम्रता से **इहि**= प्राप्त हो। **यः** =जो तू **तृतीयस्यां**=तीसरी **पृथिव्यां असि**=पृथिवी में हैं-तृतीय कारणशरीर में है अथवा आनन्दमय कोश में है, **यत्**=जो **ते**=तेरा तेज **अनाधृष्टम्**=न पराजित होनेवाला **नाम**=नम्रता का साधक **यज्ञियम्** =पवित्र है **तेन**=उसी के कारण से **त्वा दधे**=मैं तुझे धारण करता हूँ। एवं, सोम की रक्षा से 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' तीनों ही शरीर बड़े स्वस्थ रहते हैं। ये क्रमशः रोगों, कुविचारों व अज्ञान अथवा मन्दबुद्धियों से आक्रान्त नहीं होते। सोमरक्षा करनेवाले का शरीर नीरोग रहता है, बुद्धि सुविचारमय होती है और यह भेद-भावनाओं से ऊपर उठकर सदा आनन्दमय बना रहता है, इसीलिए यह 'गोतम' कहता है कि **त्वा अनु**=मैं तेरे पीछे चलनेवाला बनता हूँ। 'यह सब मैं इसलिए करता हूँ कि **देववीतये**=दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकूँ।

भावार्थ-सोम हमें उपतापों व पीड़ाओं से बचाता है। यह 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीरों में अपराजित रूप से रहकर हमें नम्र व पवित्र बनाता है। इसकी रक्षा के अनुपात में ही हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः-गोतमः। **देवता**-वाक्। **छन्दः**-ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**-ऋषभः॥

सिंही-सपत्नसाही

सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिꣳह्यसि
सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व॥१०॥

१. गत मन्त्र में सोम (अग्नि) के द्वारा शरीरों से सब मलों को दूर करके दिव्य गुणों की प्राप्ति का उल्लेख था। इस सोम की रक्षा करनेवाला अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके वेदवाणी का अध्ययन करता है और उस वेदवाणी से कहता है कि तू **सिंही असि**=सब बुराइयों की हिंसा करनेवाली है (हिनस्ति दोषान्) और सब ज्ञानों का सेवन करनेवाली है (सिञ्चति–द०)। **सपत्नसाही**=इस ज्ञान-सेचन के द्वारा काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाली है। इस प्रकार सिंही और सपत्नसाही बनकर तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए **कल्पस्व**=सामर्थ्य देनेवाली हो। २. तू **सिंही असि**=बुराइयों की हिंसा करनेवाली, ज्ञान का सेचन करनेवाली व **सपत्नसाही**=कामादि का पराभव करनेवाली है तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए **शुन्धस्व**=शोधन करनेवाली हो। ३. तू **सिंही असि सपत्नसाही**=बुराइयों को नष्ट करनेवाली, ज्ञान का सेचन करनेवाली तथा कामादि का पराभव करनेवाली है **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **शुम्भस्व**=जीवन को सुशोभित व अलंकृत करनेवाली हो।

भावार्थ–वेदवाणी बुराइयों को नष्ट करती है, ज्ञान का सेचन करती है, कामादि का पराभव करती है। बुराइयों को नष्ट करके यह हमें सबल बनाती है, ज्ञान-सेचन से यह हमारा शोधन करती है। कामादि के पराभव से यह हमारे जीवन को अलंकृत करती है।

ऋषिः–गोतमः। देवता–वाक्। छन्दः–निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः–धैवतः॥

आचार्यकुल 'आचार्य, विद्यार्थी व शिक्षा'

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बृहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि॥११॥

१. गत मन्त्र में वेदवाणी का उल्लेख है। उसी के लिए कहते हैं कि **इन्द्रघोषः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **वसुभिः**=वसुओं के साथ **पुरस्तात्**=सामने से **पातु**=रक्षित करे। **प्रचेताः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **रुद्रैः**=रुद्रों के साथ **पश्चात्**=पीछे से **पातु**=रक्षित करे। **मनोजवाः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **पितृभिः**=पितरों के साथ **दक्षिणतः**=दक्षिण से **पातु**=रक्षा दे, **विश्वकर्मा**=आचार्य **त्वा**=तुझे **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **उत्तरतः**=उत्तर से **पातु**=रक्षित करे। २. यहाँ मन्त्रार्थ में आचार्य का, जिसने विद्यार्थियों के साथ ज्ञानयज्ञ करना है, चार नामों से स्मरण हुआ है 'इन्द्रघोष, प्रचेताः, मनोजवाः, विश्वकर्मा'। आचार्य की पहली विशेषता यह है कि **'इन्द्र इति घोषो यस्य'**=जितेन्द्रियता के कारण उसकी प्रसिद्धि है। **'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'**=आचार्य स्वयं जितेन्द्रिय बनकर ही ब्रह्मचारी को जितेन्द्रिय बना पाता है।

आचार्य की दूसरी विशेषता यह है कि वह **'प्रचेताः'**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। अगाध ज्ञानवाला आचार्य ही विद्यार्थी से आदर पा सकता है। आचार्य की तीसरी खूबी **'मनोजवाः'** है–उसका मन बड़ा स्फूर्तिमय होना चाहिए। वह विद्यार्थियों के प्रश्नों का झट उत्तर दे सके, अन्यथा वह विद्यार्थियों की दृष्टि में गिर जाएगा। अन्त में आचार्य **'विश्वकर्मा'** हो–क्रियात्मक ज्ञान में भी निपुण हो। दूसरे शब्दों में आगम के साथ उसमें प्रयोग का भी नैपुण्य हो। प्रयोग न जानने पर आचार्य का ज्ञान एकाङ्गी-सा लगता है। ३. आचार्य की भाँति विद्यार्थी के लिए भी मन्त्र में चार शब्द आये हैं–'वसु-रुद्र-पितृ व आदित्य'। विद्यार्थी को इस शरीर में उत्तम निवासवाला होना चाहिए। वह अपने शरीर को सदा नीरोग

रक्खे। पढ़ाई बहुत कुछ स्वास्थ्य पर निर्भर है। विद्यार्थी-काल में उसे 'रुद्र' बनना, औरों को भी (रुत्+र) ज्ञान देनेवाला बनना चाहिए। जितना औरों को पढ़ाएगा उतना उसका अपना पाठ परिपक्व होगा। यह विद्यार्थी 'पितृ' बने (पा रक्षणे) कामादि वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला बने और आदित्य बने—जहाँ से भी ज्ञान व उत्तमता प्राप्त होती है उसे लेने में सदा उद्यत रहे (आदानात् आदित्यः)। ४. मन्त्र में शिक्षा के उद्देश्यों को भी स्पष्ट करने के लिए चार शब्दों का प्रयोग हुआ है 'पुरस्तात्, पश्चात्, दक्षिणतः, उत्तरतः'। शिक्षा हमें **पुरस्तात्**=आगे ले चलनेवाली हो, **पश्चात्**=यह हमें 'प्रत्याहार' का पाठ पढ़ाए। विषयों में गई हुई इन्द्रियों को हम वापस लाना सीखें, अर्थात् शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो हमें विषयासक्त होने से बचाए। यह हमें **दक्षिणतः**=कुशलता से कर्म करनेवाला बनाए। **उत्तरतः**=यह हमें उन्नति की ओर ले-चले और अन्ततः इस भवसागर से तैरानीवाली हो।

५. आचार्य कैसे हों? विद्यार्थी किन गुणों से युक्त हों? शिक्षा का क्या उद्देश्य हो? यह सब विचार हो चुका। अब ये सब बातें जिसपर निर्भर है उस बात का उल्लेख करते हैं कि **इदं तप्तं वाः**=इस तपे जल को **यज्ञात्**=यज्ञ से **बहिर्धा**=बाहर करके **निःसृजामि**=रखता हूँ। बाहर जो पानी है वही शरीर में 'रेतस्' है। इस रेतस् में वासनाओं के कारण एक उबाल उत्पन्न होता है। उस समय यह 'तप्तं वाः' हो जाता है। ज्ञानयज्ञ से इसे बाहर ही रखना है। आचार्यकुल का सारा वातावरण ऐसा हो जिससे वासनाओं के कारण इस रेतस् में उबाल न आये। इसी रेतस् को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है। विद्यार्थी ने सदा सौम्य भोजन करते हुए इस सोम की रक्षा करनी है। आचार्यकुल का सारा वातावरण ब्रह्मचर्याश्रम के अनुकूल होना चाहिए।

भावार्थ—आचार्य जितेन्द्रिय, ज्ञानी, मेधावी, सूझवाले व प्रयोगात्मक ज्ञान में निपुण हों। ब्रह्मचारी 'स्वस्थ, एक-दूसरे को ज्ञान देनेवाले, अपने को वासनाओं से बचानेवाले तथा अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाले हों। शिक्षा हमें आगे ले-चले, विषयासक्ति से बचाए, कर्मकुशल बनाए और उन्नत करके संसार से तराये।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—वाक्। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेद व आश्रम चतुष्टय

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा॥१२॥

१. गत मन्त्र में वर्णित आचार्यकुल में पढ़ाई जानेवाली वेदवाणी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **सिंही असि**=तू सब दोषों की हिंसा करनेवाली है और ज्ञान से सींचनेवाली है। **स्वाहा**=यह बात सचमुच ठीक कही गई है। तू **सिंही असि**=दोषों की हिंसा व ज्ञान का सेचन करनेवाली है और इस प्रकार **आदित्यवनिः**=प्रकाश का सेवन करानेवाली है। सब सद्गुणों का आदान करानेवाली है (आदानात्) **स्वाहा** =यह बात ठीक कही गई है। २. हे वेदवाणि! तू ब्रह्मचर्याश्रम में **सिंही**=दोषहिंसक, ज्ञानसेचक होकर **ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः**=ज्ञान का सेवन करानेवाली व बल को देनेवाली **असि**=है। **स्वाहा**=यह बात ठीक कही गई है। ज्ञान को तो यह देती ही है, व्यसनों से बचाकर शक्ति भी प्राप्त कराती है। ३. अब गृहस्थ में यह वेदवाणी **सिंही असि**=दोषहिंसक, ज्ञानसेचक होती हुई **सुप्रजावनिः**=उत्तम प्रजा को

प्राप्त करानेवाली और **रायस्पोषवनिः**=धन का पोषण प्राप्त करानेवाली है। **स्वाहा**=यह बात ठीक ही कही गई है। ज्ञान से मनुष्य सद्गृहस्थ बनता है, सुन्दर सन्तान का निर्माण कर पाता है तथा यह ज्ञान उसे धन कमाने की योग्यता भी देता है।

४. अब जीवन के तृतीयाश्रम में इस वेदवाणी से कहते हैं कि तू **सिंही असि**= दोषनाशक, ज्ञानसेचक है। तू **देवान्**=त्यागमय, ज्ञानप्रधान जीवन बितानेवाले वनस्थों को **यजमानाय**=इस सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक प्रभु के लिए **आवह**=ले-चल। ये वनस्थ लोग वेदवाणी का सदा अध्ययन करते हुए **(स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्)** प्रभु के समीप पहुँचने का प्रयत्न करें। **स्वाहा**=कितनी सुन्दर यह बात है! ५. इस प्रभु के उपासक वनस्थ को अब संन्यासी बनना है और वह कहता है कि हे वेदवाणि! अब मैं **त्वा**=तुझे **भूतेभ्यः**=सब प्राणियों के हित के लिए उन्हें प्राप्त कराता हूँ। मैं तेरे ही प्रचार में जीवनयापन करता हूँ।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करके हम प्रथमाश्रम में विज्ञान व बल का, दूसरे में सुसन्तान व धन का, तीसरे में प्रभु-प्राप्ति व चौथे में लोकहित का साधन करें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

संन्यासी 'ध्रुव-ध्रुवक्षित्-अच्युतक्षित्'

ध्रुवो॑ऽसि पृथि॒वीं दृꣳह ध्रुव॒क्षिद॑स्य॒न्तरि॑क्षं दृꣳहाच्यु॒त॒क्षिद॑सि॒ दिव॑ं दृꣳहा॒ग्नेः पुरी॑षमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'भूतेभ्यस्त्वा' शब्दों से हुई थी। एक परिव्राजक अपने जीवन का ध्येय बनाता है कि वह वेदवाणी का ज्ञान सब मनुष्यों को प्राप्त कराएगा और प्राणिमात्र के हित में प्रवृत्त रहेगा। उसी संन्यासी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि २. **ध्रुवः असि**=तू ध्रुव है। लोग स्तुति करें, निन्दा करें, धन आये या जाये, मृत्यु हो या जीवन, परन्तु ये न्यायमार्ग से कभी विचलित नहीं होते। ३. हे परिव्राजक! तू **पृथिवीं**=अपने इस शरीर को **दृंह**=दृढ़ बना। बीमार हो गया तो यह प्रचार क्या करेगा? ४. **ध्रुवक्षित् असि**=हे संन्यासिन्! तू (ध्रुव=मर्यादा क्षि=गति) मर्यादा में गति करनेवाला है, कभी मर्यादा को तोड़ता नहीं। ५. तू **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **दृंह**=दृढ़ कर। यह कभी तुझे मर्यादा को तोड़ने न दे। 'अन्तरिक्ष'=मध्यमार्ग से चलना ही सबसे बड़ी मर्यादा है, अति का वर्जन करना है। ६. **अच्युतक्षित् असि**=तू उस अच्युत प्रभु में निवास करनेवाला है। उस प्रभु में जो कभी भी डिगनेवाला नहीं। इस प्रभु में निवास करके तू **दिवं**=अपनी ज्ञान-ज्योति को **दृंह**=पुष्ट कर। प्रभु में स्थित व्यक्ति को अन्दर से वह ज्ञान प्राप्त होता है जो उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ठीक ज्ञान देता है। ३. इस प्रकार शरीर, मन व मस्तिष्क को दृढ़ बनाकर तू **अग्नेः**=उस अग्नि नामक प्रभु का **पुरीषम्**=अपने में पूरण करनेवाला—भरनेवाला है। इस प्रकार तू प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है।

भावार्थ—एक संन्यासी को 'ध्रुव, ध्रुवक्षित् व अच्युतक्षित्' बनना चाहिए।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सविताः। **छन्दः**—स्वराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रभु में मन का (योग) लगाना

युञ्ज॒ते मन॑ऽउ॒त यु॑ञ्ज॒ते धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चित॑ः।
वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ऽइन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुति॒ः स्वाहा॑॥१४॥

१. गत मन्त्र में 'ध्रुव, ध्रुवक्षित् व अच्युतक्षित्' बनने के लिए मन्त्र का ऋषि 'गोतम' **मनः**=मन को **युञ्जते**=उस प्रभु में लगाते हैं **उत**=और **विप्रस्य**=विशेषरूप से पूर्ण, **बृहतः**= वर्धमान **विपश्चितः**=ज्ञानी उस प्रभु की **धियः**=बुद्धियों को **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले ये लोग **युञ्जते**=अपने साथ जोड़ते हैं। 'मन को प्रभु में केन्द्रित करना और उस हृदयस्थ प्रभु की ज्ञानवाणियों को सुनकर अपने ज्ञान को बढ़ाना', 'विप्र' बनने का यही मार्ग है। इससे भिन्न मार्ग से हम अपना पूरण नहीं कर सकते। यदि इस ज्ञान से हम अपने को युक्त करेंगे तो हम भी 'विप्र, बृहत् व विपश्चित' बनेंगे। २. हम उस प्रभु में अपने मनों को केन्द्रित करते हैं और **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाले (वयुनं प्रज्ञानं–नि० ३।९) **एकः इत्**=वह एक प्रभु ही **होत्राः**=सब वेदवाणियों को (होत्रा वाङ्नाम–नि० १।११) **विदधे**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। ३. **सवितुः देवस्य**=उस सबके उत्पादक देव की **परिष्टुतिः**=संसार में चारों ओर विद्यमान स्तुति **मही**=महान् है। सूर्य, चन्द्र, तारे, बादल, विद्युत्, भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हुई नदियाँ, पर्वत, समुद्र, वन व रेगिस्तान–सभी उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। **स्वाहा**=यह कितनी सुन्दर बात है! हमें उस प्रभु की प्राप्ति के लिए 'स्व' का 'हा' करनेवाला बनना है, अर्थात् स्वार्थत्याग (सु+आह) करना है।

भावार्थ–हम मन को कन्द्रित करें, प्रभु की वाणी को सुनें और ज्ञानी बनकर सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन करें, स्वार्थमुक्त जीवन-यापन करें।

ऋषिः–मेधातिथिः। **देवता**–विष्णुः। **छन्दः**–भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

मेधातिथि

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा॥१५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर उस सविता देव की महान् स्तुति का उल्लेख था। उसी स्तुति को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **विष्णुः**=वह व्यापक परमात्मा **इदम्**=इस ब्रह्माण्ड को **विचक्रमे**=विशेष क्रमपूर्वक बनाता है। संसार को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो संसार में एक विशेष क्रम दीखता है। 'विमानः' शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा है कि परमेश्वर ने इस ब्रह्माण्ड के पिण्डों को विशेष मानपूर्वक बनाया है। २. **त्रेधा** =तीन प्रकार के **पदम्**=पगों को **निदधे**=उस प्रभु ने रक्खा है। 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक' ये ही तीन पग हैं। ३. ये जितने भी पिण्ड हैं वे सब-के-सब मूल में परमाणुरूप थे। परमाणुओं को ही वह-वह आकृति प्राप्त हो गई–'किस प्रकार कणों से सुन्दर कान्तिमय पिण्डों का निर्माण हो गया?' इस बात को सोचते हैं तो आश्चर्य ही होता है कि **पांसुरे**=धूलिकणमय प्रकृति-समुद्र में इन लोक-लोकान्तरों का **समूढम्**=सम्यक् प्रापण–निर्माण **अस्य**=इस परमात्मा का ही कर्म वैचित्र्य है। (वह प्रापणे, सम्=उत्तमता से)। प्रभु ने इन परमाणुओं से क्या विचित्र सृष्टि का निर्माण कर दिया। यही प्रभु की महिमा है। एक-एक अणु की रचना अद्भुत है, एक-एक पिण्ड आश्चर्य से परिपूर्ण है। एक-एक फल की रचना कितनी विस्मयकारक प्रतीत होती है? उपनिषद् के शब्दों में यह सारा संसार सचमुच प्रभु का व्याख्यान कर रहा है **'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्'**। यह सारा संसार **स्वाहा**=सुन्दरता से उस प्रभु का प्रतिपादन कर रहा है।

भावार्थ–यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादक है। प्रभु ने तीन लोकों में विभक्त करके इस सृष्टि की रचना की है। ये तीन लोक ही प्रभु के तीन पग हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इरावती-धेनुमती (अन्न, दूध)

इरावती धेनुमती हि भूतꣳसूयवसिनी मनवे दशस्या।
व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्त्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा॥१६॥

१. गत मन्त्र में विष्णु द्वारा संसार के निर्माण का उल्लेख है। इस संसार में मनुष्य को वसिष्ठ=वशियों में श्रेष्ठ व उत्तम निवासवाला बनना है। यह वसिष्ठ निम्नरूप में आराधन करता है—हे **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! तुम दोनों **इरावती**=(इरा=अन्न—नि० २।७) प्रशस्त अन्नवाले होओ तथा **हि**=साथ ही **धेनुमती**=प्रशस्त दुधारू गौवोंवाले **भूतम्**=होओ। **सूयवसिनी**=उन गौ इत्यादि पशुओं के लिए उत्तम यवस-(=चरी)-वाले होओ। **मनवे**=मननशील ज्ञानी के लिए **दशस्या**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले होओ।

२. हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! आप **एते**=इन **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **व्यस्कभ्ना**=विशेषरूप से अलग-अलग थामे हुए हो और **पृथिवीम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को (नि० १।३) **अभितः**=सब ओर **मयूखैः**=किरणों से **दाधर्थ** =आप ही धारण व पोषणवाला करते हो। इस विशाल अन्तरिक्ष में किरणों के द्वारा सारे वायुमण्डल में प्राणदायी तत्त्वों का समावेश होता है, जिससे सब प्राणी जीवनीशक्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मनुष्य इस सृष्टि में सब वस्तुओं का विचारपूर्वक प्रयोग करे। अन्न व दूध ही उसके भोजन हैं। अधिक-से-अधिक खुले में रहने का प्रयत्न करे। यह अन्तरिक्ष प्राणशक्ति से भरा हुआ है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ का ऊर्ध्वनयन

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्। स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्येऽआयुर्मा निर्वीदिष्टं प्रजां मा निर्वीदिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः॥१७॥

'गत मन्त्र के अनुसार 'अन्न-दूध' का ही मननपूर्वक प्रयोग करनेवाले पति-पत्नी कैसे बनते हैं' यह विषय प्रस्तुत मन्त्र में है—१. **देवश्रुतौ**=(दिव्यविद्याश्रुतौ—द०) सृष्टि के ३३ देवों के ज्ञान का श्रवण करनेवाले तुम हो। जिन देवों के सम्पर्क में हमें सदा रहना है और वस्तुतः जिन देवों से हमारा शरीर बना है, उनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक ही है। २. **देवेषु**=विद्वानों के चरणों में **(विद्वाꣳसो हि देवाः) आघोषतम्**=तुम इन ज्ञान की वाणियों का उच्चरण करो। विद्वानों से ३३ देवों का ज्ञान प्राप्त करो। ३. **प्राची प्रेतम्** =(प्र अञ्च्) इस प्रकार सदा आगे बढ़ते हुए चलते चलो। हम उन्नतिशील हों, क्रियाशील हों, अकर्मण्य न हो जाएँ। ४. हम सदा **अध्वरं कल्पयन्ती**=हिंसारहित यज्ञों को करनेवाले हों। **यज्ञम्**=यज्ञ को **ऊर्ध्वम्**=ऊपर **नयतम्**=ले-चलो। हमारे यज्ञों में किसी प्रकार का विकार न आ जाए। ५. **मा जिह्वरतम्**=किसी तरह की कुटिलता न करो। हमारा जीवन सरल हो।

६. (क) **स्वं गोष्ठम्**=अपने गोष्ठ को **आवदतम्**=चारों ओर प्रख्यात करो। अपने घर की गौशाला को ऐसा सुन्दर बनाओ कि तुम्हारी गौवों की चारों ओर चर्चा हो। (ख) अथवा **स्वम्**=अपने को **गोष्ठम्**=वेदवाणियों का निवासस्थान और परिणामतः देवों का

निवासस्थान **आवदतम्**=प्रसिद्ध करो। लोगों में तुम्हारे ज्ञान व श्रेष्ठता की ही चर्चा हो। ७. **देवी**=तुम दिव्य गुणोंवाले बनो और इस प्रकार **दुर्ये**=घर को उत्तम बनानेवाले होओ। ८. **आयुः**=अपने जीवन को **मा**=मत **निर्वादिष्टम्**=(निर्=निन्दायाम्) निन्दितरूप में उच्चारित कराओ, अर्थात् आपके जीवन की निन्दा न हो। **प्रजाम्**=अपनी सन्तान का भी **मा**=मत **निर्वादिष्टम्**=निन्दित रूप में उच्चारण कराओ, अर्थात् तुम्हारी सन्तान की चारों ओर निन्दा न हो। ९. इस प्रकार प्रशस्त जीवन व प्रशस्त सन्तानवाले बनकर **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वर्ष्मन्**=शरीरभूत देवयजन के स्थान में **रमेथाम्**=आनन्द का अनुभव करो, अर्थात् तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। तुम यज्ञस्थान को ही पृथिवी का शरीर समझो। अथवा (वर्ष्मन्=handsome form) पृथिवी के सुन्दर रूप में **रमेथाम्**=आनन्द का अनुभव करो, पृथिवी=शरीर। तुम दोनों के शरीर बड़े सुन्दर हों। पृथिवी के देवयजन में स्थित होकर ये प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम देवश्रुत बनें, जीवन में यज्ञ को ऊँचा स्थान दें, कुटिलता से दूर रहें, इस प्रकार अपने जीवन व प्रजा को सुन्दर बनाएँ और अपने सुन्दर शरीरों में आनन्द का अनुभव करें अथवा इस पृथिवी के देवयजनों में ही आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विष्णु-स्तवन

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाꣳसि।
योऽअस्कभायदुत्तरꣳसधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥१८॥

१. मैं **विष्णोः**=व्यापक परमात्मा के **वीर्याणि**=पराक्रमयुक्त कर्मों को **नु कं**=शीघ्र ही **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ। **यः**=जो विष्णु **पार्थिवानि**=(अन्तरिक्षे विदितानि—द०) अन्तरिक्ष में होनेवाले **रजांसि**=लोकों को **विममे**=विविधता से निर्माण करता है। प्रत्येक लोक में थोड़ा-थोड़ा भेद है। २. **यः**=जो सर्वाधार प्रभु त्रिधा गति करते हुए **उत्तरम्**=इस उत्कृष्ट **सधस्थम्**=सब लोकों के (सह) एकत्र स्थित होने के स्थान इस अन्तरिक्ष को **अस्कभायत्**=थामे हुए हैं। **विचक्रमाणः त्रेधा**=वे प्रभु तीन प्रकार से गति कर रहे हैं। द्युलोक में सूर्यरूप से, अन्तरिक्षलोक में वायुरूप से और पृथिवीलोक में अग्निरूप से प्रभु की गति हो रही है। **उरुगायः**=आप विशाल गतिवाले हैं या सब पदार्थों का वेद द्वारा गायन, उपदेश करनेवाले हैं। ३. **विष्णवे त्वा**=सर्वत्र व्यापक तुझ प्रभु को पाने के लिए ही मैं प्रयत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—वे प्रभु अत्यन्त शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले हैं। उरुगाय हैं। मैं उन्हीं की शरण में जाता हूँ।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

दोनों हाथों से

दिवो वा विष्णऽउत वा पृथिव्या महो वा विष्णऽउरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा॥१९॥

१. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **दिवः वा**=चाहे द्युलोक से **उत वा पृथिव्याः**=या पृथिवी से **महः उरो अन्तरिक्षात् वा**=इस महनीय विशाल अन्तरिक्ष से **उभा हि हस्ता**=निश्चय

से दोनों हाथों को **वसुना**=धन से **पृणस्व**=भर दीजिए। **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **दक्षिणात्**=दाहिने हाथ से **उत**=और **सव्यात्**=बायें हाथ से **आप्रयच्छ**=हमें सब ओर से धन दीजिए। **विष्णवे त्वा**=तुझ विष्णु को पाने के लिए ही मैं प्रयत्नशील होता हूँ। २. उल्लिखित मन्त्रार्थ में प्रभु से द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक के वसु की याचना है। द्युलोक का वसु 'ज्ञान' है, पृथिवीलोक का वसु 'स्वास्थ्य' है और अन्तरिक्षलोक का वसु 'नैर्मल्य' है। एवं, भक्त, ज्ञान, स्वास्थ्य व हृदय की निर्मलता व सत्य की प्रभु से याचना करते हैं। वे प्रभु इन वसुओं के साथ हमें सर्वत्र निवास के लिए आवश्यक धन भी प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार आन्तर व बाह्य धनों को प्राप्त करके हम अध्यात्म उन्नति के लिए पूर्ण अवसर पाते हैं। इस अवसर का उचित उपयोग उठाकर हम उस विष्णु को पाने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—अनुकूल वातावरण पाकर हम प्रभु को प्राप्त करने के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विष्णु के तीन विक्रमण

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥ २०॥

वह **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु **मृगः**=(मार्ष्टि) हमारे जीवन का शोधन करनेवाले हैं। प्रभु के स्मरण से वासनाओं का विनाश हो जाता है। **न भीमः**=वे प्रभु हमारे लिए भयंकर नहीं हैं, वे तो पुत्रों के लिए पिता के समान हैं। **कुचरः**=(कौ चरति) वे प्रभु सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरण करनेवाले हैं (क्वायं चरतीति)। सर्वव्यापक होते हुए भी न जाने कहाँ हैं। अदृश्य होने से ऐसा ही कहना पड़ता है। **गिरिष्ठाः**=वे प्रभु वेदवाणी में स्थित हैं। **सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**=सारे वेद उस प्रभु का प्रतिपादन कर रहे हैं। (देहोऽपि गिरिरुच्यते—उ०) वे प्रभु 'इस शरीर में स्थित हैं। आश्चर्य तो यही है कि समीप-से-समीप हमारे ही शरीर में होते हुए दूर-से-दूर हैं—अदृश्य हैं। ये विष्णु वे हैं **यस्य**=जिनके **त्रिषु**=तीन **उरुषु**=विस्तृत **विक्रमणेषु**=विक्रमरूप लोकों में **विश्वानि**=सब **भुवनानि**=(भूतजातानि) प्राणी **अधिक्षियन्ति**=निवास करते हैं। **तत्**=(तस्मात्) अतः वे विष्णु **वीर्येण प्रस्तवते**=अपने वीरतापूर्ण कर्मों के कारण स्तुत किये जाते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे जीवनों को शुद्ध बनाते हैं। क्या भूपृष्ठ पर, क्या पर्वतशिखर पर वे सर्वत्र विद्यमान हैं। ये तीनों लोक प्रभु के ही तीन विक्रमण हैं। इन्हीं में सब प्राणियों का निवास है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिगार्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वैष्णव

विष्णोः रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि।
वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥ २१॥

गत मन्त्र के अनुसार विष्णु का स्मरण करनेवाले पवित्र बनते हैं। विष्णु यज्ञरूप हैं, अतः इनका जीवन यज्ञमय होता है। मन्त्र में कहते हैं कि तू **विष्णोः**=यज्ञ का **रराटम् असि**=ललाट है, मस्तक है। यज्ञ करनेवालों का तू मूर्धन्य बनता है। 'रठ परिभाषणे' धातु

से इस शब्द को बनाएँ तो अर्थ होगा कि तू सदा यज्ञ का ही जप करनेवाला, यज्ञ की ही रट लगानेवाला है। **विष्णोः**=यज्ञ के **श्नप्त्रे**=(सृक्किणी) तुम ओष्ठप्रान्त हो। तुम्हारे जीवन का आदि-अन्त यह यज्ञ ही है। तू **विष्णोः**=यज्ञ को **स्यूः असि**=अपने जीवन के साथ सी लेनेवाला है। यज्ञ तेरे जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ गया है। **विष्णोः**=यज्ञ का तू **ध्रुवः असि**=ध्रुव है। निश्चित स्थान है। तू यज्ञ से अलग नहीं होता, यज्ञ तुझसे अलग नहीं होता। तू तो इस यज्ञ का भक्त बनकर **वैष्णवम् असि** =वैष्णव ही हो गया है। **विष्णवे त्वा**=तूने अपने को विष्णु के लिए अर्पित कर दिया है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को यज्ञमय बनाकर 'वैष्णव' बन जाएँ।

सूचना—यज्ञ विष्णु है—विष्लृ व्याप्तौ—व्यापक कर्म है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—साम्नीपङ्क्तिः[क], भुरिगार्षीबृहती[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

बृहती वाक्

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
[र]आददे नार्यसीदमहꣳरक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि।
बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद॥२२॥

१. गत मन्त्र में जीवन को यज्ञमय बनाने का उल्लेख था। जीवन को यज्ञमय बनानेवाला व्यक्ति संसार में प्रत्येक वस्तु का उपयोग विशेष प्रकार से करता है। वह कहता है कि हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक देव के **प्रसवे**=प्रसव में, अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। न अतियोग करता हूँ, न अयोग; अपितु यथायोग करके मैं तुझसे लाभान्वित होता हूँ। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापानों के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। मैं तुझे बिना प्रयत्न के लेना नहीं चाहता, क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक पदार्थ हानिकर होता है। **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=मैं पूषा के हाथों से तेरा ग्रहण करता हूँ और तेरे उपयोग में मेरा दृष्टिकोण स्वाद व सौन्दर्य न होकर पोषण होता है। २. हे पदार्थ! वस्तुतः इसी प्रकार ग्रहण किया हुआ तू नारी (नराणामियम्) मनुष्यों का हित करनेवाला होता है। अथवा **नारिः असि**=मनुष्यों का (न अरिः) शत्रु नहीं है। जब तक दृष्टिकोण पोषण का बना रहता है, यह मनुष्य का हित-ही-हित करता है। दृष्टिकोण स्वाद का बना और ये सृष्टि के पदार्थ उसके अहित का कारण बन जाते हैं। **'रसमूला हि व्याधयः'**=सब व्याधियाँ इस स्वाद के ही कारण होती हैं। मैं इन पदार्थों का ठीक उपयोग करके इस स्थिति में हो गया हूँ कि **रक्षसां ग्रीवा अपि**=इन रोगकृमियों की ग्रीवा को ही **कृन्तामि**=काट देता हूँ। इन रोगकृमियों का समूलोन्मूलन हो जाता है। ३. हे प्रभो! आप **बृहन् असि**=मेरे इन रोगकृमियों का उद्बर्हण (विनाश) करनेवाले हो। इन राक्षसों की ग्रीवा को मैं नहीं काटता, यह काम आप ही करते हो। **बृहद् रवाः**=आप हृदयस्थरूपेण वृद्धिकारक उपदेश देनेवाले हैं। **इन्द्राय**=मुझ जितेन्द्रिय के लिए इस **बृहतीम्**=वृद्धि की कारणभूत **वाचम्**=वेदवाणी को **वद**=कहिए। आपकी कृपा से मैं इस वेदवाणी को सुनूँ। इसके सुनने से मेरी वासनाओं का उद्बर्हण होता है और यह शरीर, मन व मस्तिष्क—सभी दृष्टिकोणों से मेरी वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—मैं सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करूँ। राक्षसों को जीतूँ। प्रभु की बृहती वाक् को सुनूँ।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—याजुषीबृहती [उ], स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप् [ख], स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक् [ग]। स्वरः—मध्यमः [उ], गान्धारः [ख], ऋषभः [ग]॥

कृत्या का उत्कृन्तन (उच्छेद)

[उ]रक्षोहणं वलगहनं [क]वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि [ख]यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि [ग]यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि॥२३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'बृहतीं वाचं वद' पर थी—बृहती वाक् को बोलिए। उस बृहती वाक् को जो **रक्षोहणम्**=सब राक्षसी वृत्तियों को समाप्त कर देती है। राक्षसी वृत्तियों को ही नहीं यह रोगकृमियों को भी नष्ट करनेवाली है। २. यह वाणी **वलगहनम्**=(वल veil. संवृत रूप में ग=गति करनेवाले) हमारे मनों में छिपेरूप में विचरनेवाले मनसिज (काम) को नष्ट करनेवाली है। यह काम न जाने कब और कहाँ से हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। हम वेदवाणी का अध्ययन करते हैं तो यह उस वासना का विनाश करती है। ३. **वैष्णवीम्**=यह वाणी मुझे वासना से ऊपर उठाकर यज्ञिय मनोवृत्तिवाला बनाती है और विष्णु (परमात्मा) को प्राप्त कराती है। ४. इस वाणी को अपनाकर **इदम्**=(इदानीम्) अब **अहम्**=मैं **तं वलगम्**=अदृश्य रूप से मेरे अन्दर आ जानेवाली उस वासना को **उत्किरामि**=उखाड़कर बाहर फेंक देता हूँ, **यम्**=जिस वासना को **मे**=मुझमें **निष्ट्यः**=बाहर होनेवाले या **यम्**=जिसको **अमात्यः**=मेरे साथ ही होनेवाले किसी व्यक्ति ने **निचखान**=गाड़ दिया है। हममें वासनाएँ सङ्ग से उत्पन्न हो जाती हैं। कई बार इसके उत्पन्न करनेवाले बाहर के व्यक्ति होते हैं। ५. **इदम्**=अब **अहम्**=मैं **तं वलगम्**=उस संवृतरूप से गति करनेवाले काम को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **समानः**=समान आयु का **यम्**=जिसे **असमानः**=बड़ी आयु का मनुष्य **निचखान**=गाड़ देता है। हमउम्र साथियों से यह वासना उत्पन्न कर दी जाती है। कई बार बड़ी आयु के व्यक्ति भी इस बुरी आदत को पैदा करने के कारण बन जाते हैं। ६. **इदम् अहम्**=अब मैं **तं वलगम्**=उस मनसिज (काम) को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **सबन्धुः**=कोई सगोत्र व्यक्ति या **यम्**=जिसे **असबन्धुः**=असगोत्र व्यक्ति **निचखान**=गाड़ देता है। इस वासना की उत्पत्ति में रिश्तेदार भी कारण बन जाते हैं और जो रिश्तेदार नहीं होते वे भी। ७. **इदम् अहम्**=यह मैं **तं वलगम्**=उस वासना को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **सजातः**=सगा व्यक्ति, समान स्थान में उत्पन्न हुआ व्यक्ति **यम्**=जिसे **असजातः**=असमान स्थान में उत्पन्न व्यक्ति, दूर का व्यक्ति **निचखान**=गाड़ देता है। **कृत्याम्** (कृती छेदने)=छेदन-भेदन करनेवाली इस वासना को मैं **उत्किरामि**=निश्चय से उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—मानव-जीवन का ध्येय यही होना चाहिए कि 'मैं इस अनन्त कारणों से, न जाने कब उत्पन्न हो जानेवाली अदृश्य वासना को अवश्य ही उखाड़ फेंकूँगा।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—सूर्यविद्वांसौ। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'स्वराट् से सर्वराट्'

स्वराडसि सपत्नहा सत्नराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा॥२४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार वासना का उच्छेद करनेवाला यह 'दीर्घतमा' प्रभु का प्रिय बनता है। प्रभु इससे कहते हैं कि तू अपने इस जीवन के प्रथम प्रयाण में **स्वराट् असि**=स्वराट् है, अपना शासन करनेवाला बना है (स्व=अपना, राज्=regulate) तूने अपने जीवन को बड़ा नियमित बनाया है। **सपत्नहा**=तूने 'काम, क्रोध, लोभ, मोह व मद-मत्सर' इन सब शत्रुओं का हनन किया है। २. जीवन के दूसरे प्रयाण में तू **सत्रराट् असि**=यज्ञों से दीप्त होनेवाला बना है, यज्ञों से तेरी कीर्ति चारों ओर फैली है और **अभिमातिहा**=तूने अभिमानरूप शत्रु का संहार किया है। ३. अब जीवन की तृतीय मंजिल में **जनराट् असि**= तू अपने विकास से चमकनेवाला हुआ है (जनी=प्रादुर्भाव, विकास, evolution) और **रक्षोहा**=सब रोगकृमियों का या राक्षसी वृत्तियों का हनन करनेवाला है। शरीर से भी नीरोग रहता है और मन से भी प्रसादमय रहता है। ४. इस प्रकार **'सर्वराट् असि'**=तू सर्वव्यापक होने से 'सर्व' नामवाले प्रभु से चमकनेवाला बना है। उसको सदा हृदय में धारण करने से तेरा चेहरा ब्रह्मवर्चस् की दीप्ति से चमकता है और तू **अमित्रहा**=अस्नेह की भावना को समाप्त करनेवाला हुआ है। तेरा सबके प्रति प्रेम है। सारी वसुधा तेरा कुटुम्ब बन गई है। सभी तेरी मैं में समाविष्ट हो गये हैं और तू भी अपने उपास्य की तरह 'सर्व' बन गया है।

भावार्थ—हमें क्रमशः 'स्वराट्, सत्रराट् व जनराट्' बनकर सर्वराट् बनना है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती[क], आर्षीपङ्क्तिः[ख]। **स्वरः**—मध्यमः[क], पञ्चमः[ख]॥

'प्रोक्षण-अवनयन-अवस्तरण' उपधान-पर्यूहण

[क]रक्षोहणो॑ वो वलग॒हन॒: प्रोक्षा॑मि वैष्ण॒वान्र॑क्षो॒हणो॑ वो वलग॒हनो॑ऽव॑नयामि वैष्ण॒वान्र॑क्षो॒हणो॑ वो वलग॒हनो॑ऽव॑स्तृणामि वैष्ण॒वान्र॑क्षो॒हणौ॑ [ख]वां वलग॒हना॑ऽउप॑दधामि वैष्ण॒वी र॑क्षो॒हणौ॑ वां वलग॒हनौ॒ पर्यू॑हामि वैष्ण॒वी वैष्ण॒वम॑सि वैष्ण॒वा स्थ॥२५॥

१. २३वें मन्त्र में राक्षसी वृत्तियों व काम के विध्वंस का उल्लेख था। उन्हीं के विषय में प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **रक्षोहणः**=इन राक्षसी वृत्तियों का विध्वंस करनेवालों को **वलगहनः**=संवृत (veiled) रूप में गति करनेवाले इस काम का हनन करनेवालों को **प्रोक्षामि**=मैं ज्ञान से सिक्त करता हूँ। जो तुम **वैष्णवान्**=वासना को जीतकर व्यापक मनोवृत्तिवाले बने हो (विष् व्याप्तौ)। २. **वः**=तुममें से **रक्षोहणः** =रोगकृमियों का संहार करनेवालों को तथा **वलगहनः**=काम का हनन करनेवाले राक्षसों को **अवनयामि**=इन बन्धनों से दूर ले-जाता हूँ, क्योंकि तुम **वैष्णवान्**=यज्ञिय जीवनवाले बने हो (विष्णुर्वै यज्ञः) ३. **रक्षोहणः**= अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवालों राक्षसों का हनन करनेवाले **वलगहनः**=वासना को नष्ट करनेवाले **वः**=तुम्हें **अवस्तृणामि**=संसार के कष्टों से दूर आच्छादित करता हूँ, क्योंकि तुम **वैष्णवान्**=विष्णु-व्यापक प्रभु के उपासक बने हो। ४. गृहस्थ में **रक्षोहणौ**= रोगकृमियों का नाश करनेवाले **वाम्**=तुम दोनों **वलगहनौ**=वासना का हनन करनेवाले पति-पत्नी को **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ। **वैष्णवी**=वह वेदवाणी इन पति-पत्नी के हृदयों को विशाल बनानेवाली है। **रक्षोहणौ**=राक्षसी भावों का नाश करनेवाले **वाम्**=तुम दोनों **वलगहनौ**=कामघाती पति-पत्नी को **पर्यूहामि**=इस वेदवाणी के द्वारा (परि ऊहामि=परि प्रापयामि) सब सन्देहों के परे पहुँचाता हूँ। आपको आपके मार्ग का निश्चय कराता हूँ। **वैष्णवी**=यह वेदवाणी व्यापक ज्ञानवाली है। **वैष्णवम् असि**=वेद का ज्ञान यज्ञों व विष्णु का ज्ञान है। इनमें परमात्मा व यज्ञों का प्रतिपादन है। **वैष्णवाः स्थ**=तुम सब उस व्यापक

प्रभु के उपासक बनो।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान से अभिषिक्त करते हैं, वासनाओं के बन्धनों से दूर ले-जाते हैं, संसार के कष्टों से सुदूर सुरक्षित करते हैं, अपने समीप स्थापित करते हैं और सब सन्देहों से परे पहुँचाते हैं।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः[क], निचृदार्षीत्रिष्टुप्[ख]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], धैवतः[ख]॥

यव

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि। [ख]यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥२६॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार ज्ञान से सिक्त व्यक्ति संसार में ठीक प्रकार से चलता है। वह कहता है कि हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रभु ने **'पयः पशूनाम्'**=पशुओं के दूध के प्रयोग का आदेश दिया है तो मैं उनका दूध ही लेता हूँ, उनका मांस नहीं खाता। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व'**=इस उपदेश का ध्यान करता हुआ श्रम को अपने जीवन से दूर नहीं होने देता। **पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। मैं स्वाद के लिए नहीं खाता, सौन्दर्य के लिए नहीं पहनता, परिणमतः तू **नारी असि**=मुझ नर की शक्ति बनता है। विपरीतावस्था में यह उसकी शक्ति का ह्रास करनेवाला उसका (अरिः) शत्रु हो जाता है। २. **इदम्**=अब इस प्रकार शक्तिशाली बनकर **रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि**=मैं राक्षसों की ग्रीवा को भी काट देता हूँ। अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि ही 'रक्षस्' हैं (र+क्ष)। जब मनुष्य प्रत्येक पदार्थ का यथायोग सेवन करता है, प्रयत्न से पदार्थों का उपार्जन करता है और पोषण के दृष्टिकोण से ही वस्तुओं को स्वीकार करता है तब वस्तुतः वह रोगकृमियों का संहार कर पाता है। रोगकृमियों के नाश से शरीर तो सुन्दर बनता ही है, मन भी निर्मल बनता है। सब पदार्थों का ठीक प्रयोग हमारे हृदयों को वासनाओं से हिंसित नहीं होने देता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ३. **यवः असि**=हे प्रभो! आप यव हो। (यु मिश्रणामिश्रणयोः) हमें बुराइयों से पृथक् करके अच्छाइयों से जोड़नेवाले हो, अतः **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **यवय**=पृथक् कीजिए। **अरातीः**=न देने की भावनाओं को **यवय** =पृथक् कीजिए। ४. हे प्रभो! **दिवे त्वा**=मस्तिष्करूप द्युलोक के लिए मैं तुझे प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना से मेरा मस्तिष्क ठीक हो। **अन्तरिक्षाय त्वा**=हृदयान्तरिक्ष के ठीक रखने के लिए मैं आपको प्राप्त होता हूँ। आपकी कृपा से मेरा हृदयान्तरिक्ष वासनाओं के बवण्डर से मलिन न हो। **पृथिव्यै त्वा**=शरीररूप पृथिवी के विस्तार के लिए मैं तुझे प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना से मेरा शरीर शुद्ध बनता है। ५. **लोकाः शुन्धन्ताम्** =मेरे तीनों लोक शुद्ध हों। मस्तिष्करूप द्युलोक, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक सभी मलों से रहित हों। द्युलोक में भ्रमों के बवण्डर न हों, अन्तरिक्ष में वासनाओं के तूफान न हों, पृथिवी पर—शरीर में **मल**=foreign matter का सञ्चय न हो। ६. **पितृषदनाः**=हे प्रभो! हमारे घर ज्ञानियों के निवासस्थान बनें। (पितरः ज्ञानिनः सीदन्तु येषु) अर्थात् हमें सदा ज्ञानियों का सङ्ग प्राप्त रहे। अब मन्त्र की समाप्ति पर अपने को प्रेरणा देता हुआ

दीर्घतमा कहता है कि हे मेरे हृदय **'पितृषदनम् असि'**—तू ज्ञानियों का घर है, अर्थात् मेरे हृदय में सदा ज्ञानियों की चर्चा (विचारणा) रहे।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में रहकर हम अपने जीवनों को शुद्ध कर लें। हमारे हृदयों में न द्वेष हो न अदान की भावना।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

ब्रह्म, क्षत्र, आयु, प्रजा

उद्दिवꣳस्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह॥२७॥

दीर्घतमा को, जिसने गत मन्त्र में सब लोकों के शोधन की प्रार्थना की है, प्रभु प्रेरणा देते हैं कि—१. **दिवं उत्स्तभान**=तू अपने मस्तिष्क को ऊपर थाम। जैसे पर्वत के मेखलाप्रदेश में ही बादल उमड़ते हैं और उसका शिखर सूर्य के प्रकाश से दीप्त रहता है, उसी प्रकार तेरा मस्तिष्क भी ज्ञान की ज्योति से जगमगाता रहे। वह कभी भ्रमों व सन्देहों से न भर जाए। २. **अन्तरिक्षम्**=तू अपने हृदयान्तरिक्ष को **पृण**=परिपूरण कर। अपने हृदय को वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित कर। ३. **पृथिव्यां दृंहस्व**=इस शरीर में तू दृढ़ बन। शरीर ही पृथिवी है। जैसे पृथिवी दृढ़ है, उसी प्रकार तू दृढ़ शरीरवाला बन। ४. **द्युतानः**=(दिवं तनोति) ज्ञान का विस्तार करनेवाला **मारुतः**=प्राण-साधना करनेवाला विद्वान् **त्वा**=तुझे **मिनोतु**=विषयों से परे फेंके, अर्थात् विषयवासना के संसार में उलझने न दे। ५. **मित्रावरुणौ**=स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता तुझे **ध्रुवेण धर्मणा**=ध्रुव धर्म से युक्त करें, अर्थात् स्नेह व अद्वेष तुझे धर्म के मार्ग पर दृढ़ करें। ६. **ब्रह्मवनि**=ज्ञान का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझे, **क्षत्रवनि**=बल का विजय करनेवाले, **रायस्पोषवनि**=धन के पोषण का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझको **पर्यूहामि**=मैं अपने समीप प्राप्त कराता हूँ। वस्तुतः प्रभु को वही प्राप्त करता है जो ज्ञान के द्वारा अध्यात्म उन्नति का साधन करता है, बल के द्वारा शरीर की उन्नति का साधन करता है और धन से सांसारिक उन्नति को सिद्ध करता है। ज्ञान से **'सत्य'**, बल से **'यश'** तथा धन से **'शक्ति'** साधन करके हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। ७. अतः तू **ब्रह्म दृंह**=अपने ज्ञान को दृढ़ कर, **क्षत्रं दृंह**=बल को दृढ़कर, **आयुः दृंह**=अपनी आयु को दृढ़कर और **प्रजाम्**=प्रजा को **दृंह**=दृढ़ कर। वस्तुतः ज्ञान की दृढ़ता से जीवन की दृढ़ता होती है और बल की दृढ़ता से सन्तान की दृढ़ता सिद्ध होती है। ज्ञान से जीवन, बल से सन्तान उत्तम होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को प्राप्त करने के लिए जहाँ ज्ञान और बल की आवश्यकता है, वहाँ जीवन व सन्तान को सुन्दर बनाना भी नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

छाया

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया॥२८॥

१. गत मन्त्र की प्रेरणा ही प्रस्तुत मन्त्र में चल रही है। प्रभु कहते हैं कि अपने ज्ञान

व बल को दृढ़ करके एक गृहपत्नी **ध्रुवा असि**=ध्रुव बनी है। यह अपने मार्ग से विचलित नहीं होती। २. **अयं यजमानः**=यह यज्ञ के स्वभाववाला पति भी **अस्मिन् आयतने**=इस घर में **ध्रुवः**=स्थिर होकर निवास करनेवाला है। पति-पत्नी दोनों ही ध्रुव हैं। ये अपने मार्ग से विचलित नहीं होते। २. इस ध्रुवता के परिणामस्वरूप यह यजमान **प्रजया पशुभिः**=उत्तम सन्तानों व उत्तम गवादि पशुओं से **भूयात्**=फूले व फले। ३. इसके **द्यावापृथिवी** =मस्तिष्क व शरीर **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से व मलों के क्षरण से **पूर्येथाम्**=पालित व पूरित हों। मस्तिष्क ज्ञानज्योति से पूर्ण हो तो शरीर भी मलों के क्षरण से पूर्ण स्वस्थ हो। ४. तू **इन्द्रस्य छदिः असि**=परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् प्रभु की छतवाला है। जैसे छत सर्दी-गर्मी, ओले-वर्षा से बचाती है इस प्रकार तू प्रभुरूपी छतवाला होता है और सब बुराइयों के आक्रमण से बचा रहता है। ५. उस 'इन्द्र' को छत के रूप में प्राप्त करके तू **विश्वजनस्य**=सब लोगों की **छाया**=शरणस्थल बनता है। प्रभु तेरे रक्षक बनते हैं, तू लोगों को सन्ताप से सुरक्षित करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु मेरे रक्षक हैं। मैं औरों का सन्ताप दूर करनेवाला बनूँ। मेरा मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से पूर्ण हो। मेरा शरीर मैल से रहित होकर स्वस्थ बने।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—ईश्वरसभाध्यक्षौ। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वृद्धिशील-प्रिय (वृद्धयः-जुष्टयः)

परि॑ त्वा गिर्वणो॒ गिर॑ऽइ॒मा भ॑वन्तु वि॒श्वतः॑।
वृ॒द्धायु॒मनु॒ वृद्ध॑यो॒ जुष्टा॑ भवन्तु जु॒ष्टय॑ः॥२९॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार यदि हम 'प्रभु के आश्रय' वाले बनना चाहते हैं तो हमारी प्रार्थना का स्वरूप यह होता है—हे **गिर्वणः**=(गीर्भिः स्तोतुमर्हः) वेद-वाणियों से स्तवन के योग्य प्रभो! **इमाः गिरः** =ये मेरी वाणियाँ **विश्वतः**=सब ओर से हटकर **त्वा परिभवन्तु**=आपके चारों ओर हों, अर्थात् मैं अपना ध्यान और सब ओर से हटकर अपनी वाणियों को आपके स्तवन में लगाऊँ। २. यह प्रभु-स्तवन हमें पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कराता है। इससे हमारा मस्तिष्क दीप्त बनता है, मन पवित्र बनता है और शरीर दृढ़ बनता है। यह त्रिविध उन्नति करके—तीन पगों को रखकर—मनुष्य उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है (वृद्धम् आयुर्यस्य) यह उत्कृष्ट जीवनवाला व्यक्ति 'वृद्धायु' कहलाता है। घर में मूलपुरुष के वृद्धायु होने पर आगे आनेवाले सन्तान भी वैसे ही बनते हैं। **वृद्धायुम् अनु**=इन उत्कृष्ट जीवंनवाले पितरों का अनुकरण करते हुए **वृद्धयः**=उनके सन्तान भी वृद्धिवाले होते हैं। सन्तान माता-पिता के अनुरूप ही बनते हैं। ये सन्तान **जुष्टयः**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) बड़े प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करनेवाले हों और परिणामतः **जुष्टाः भवन्तु**=बड़े प्रिय हों। अपने माता-पिता के प्यारे बनें। बन्धु-बान्धवों व परिचितों के वे प्रिय हों।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें। इससे हमारे जीवन उत्कृष्ट होंगे, हमारे सन्तानों के जीवन अच्छे बनेंगे और अपना कर्त्तव्य सेवन करनेवाले बनकर सभी के प्रिय होंगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—ईश्वरसभाध्यक्षौ। **छन्दः**—आर्च्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु के साथ सिल जाना (इन्द्रस्य स्यूः)

इन्द्र॑स्य॒ स्यूर॒सीन्द्र॑स्य ध्रु॒वो॒ऽसि। ऐ॒न्द्रम॑सि वैश्वदे॒वम॑सि॥३०॥

गत मन्त्र में 'दीर्घतमा' ऋषि का प्रभु-स्तवन समाप्त हुआ है। उसकी कामना यही रही है कि मेरी वाणियाँ सब ओर से हटकर प्रभु का ही स्तवन करनेवाली बनें। इससे उत्तम और कामना हो भी क्या सकती है? इस उत्तम कामनावाला यह अब 'मधुच्छन्दाः' बन जाता है—उत्तम इच्छाओंवाला। दूसरे शब्दों में दीर्घतमा=अज्ञान का विदारण करनेवाला मधुच्छन्दा—उत्तम इच्छाओंवाला बनकर अपने से कहता है कि—१. तू **इन्द्रस्य** =परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्यूः**=अपने साथ सी लेनेवाला **असि**=है। तूने उस प्रभु को अपने साथ जोड़ा है। २. **इन्द्रस्य ध्रुवः असि**=तू इन्द्र के ध्रुववाला है, अर्थात् तेरी सारी क्रियाएँ उस इन्द्र के ही चारों ओर घूमती हैं। 'इन्द्र का तू ध्रुव है' यह अर्थ करने पर भी भावना यही है कि तू चारों ओर प्रभु से आवृत है। ३. **ऐन्द्रम् असि**=प्रभु के निरन्तर सम्पर्क के कारण तू भी परमैश्वर्य का अधिकरण बना है और **वैश्वदेवम् असि**=सब दिव्य गुणों का तू अधिकरण हुआ है, अर्थात् 'सतत प्रभु उपासन' का तेरे जीवन पर यह प्रभाव हुआ है कि तू जहाँ परमैश्वर्य का अधिष्ठान बना है वहाँ सब दिव्य गुणों का भी निवासस्थान हुआ है। ऐश्वर्य व दिव्य गुणों को प्राप्त करके तू भी बहुत कुछ उस प्रभु-जैसा हो गया है। उपासना का यह परिणाम होना ही चाहिए था।

भावार्थ—मधुच्छन्दा प्रार्थना करता है कि मैं प्रभु के साथ सिल जाऊँ। उससे अलग हो ही न सकूँ। प्रभु ही मेरे ध्रुव हों—केन्द्रबिन्दु हों। मेरी सारी क्रियाएँ उन्हीं के चारों ओर घूमें जिससे मैं भी परमैश्वर्य व दिव्य गुणों का अधिकरण बनूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मधुच्छन्दा का प्रभु-स्तवन

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः।
श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः॥३१॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के साथ अभिन्न हो जाने की कामनावाला मधुच्छन्दा प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है कि—१. हे प्रभो! **विभूः असि**=(वि-भवति) आप सर्वव्यापक हो, सब वैभवोंवाले हो (विभव=विभूति), **प्रवाहणः**=सारे संसार के संचालक हो। इस संसार को गति देनेवाले आप ही हैं। ये अत्यन्त तीव्र गति में चलते हुए पिण्ड आपसे ही गति पा रहे हैं। २. आप **वह्निः असि**=सारे संसार का वहन व धारण करनेवाले हैं, **हव्यवाहनः**=सब प्राणियों के लिए हव्यों को प्राप्त करानेवाले हैं। हव्य पदार्थ का अभिप्राय 'दानपूर्वक अदन' है। आप हमें उन-उन आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं जिनका त्यागपूर्वक उपभोग करते हुए हम अपने जीवनों का ठीक धारण कर सकें। ३. **श्वात्रः असि**=(शु क्षिप्रम् अतति—म०) आप शीघ्र गतिवाले हैं। आपके कर्मों में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होता। (श्वि=गतिवृद्धि+त्रा) आप गतिशील हैं, सदा वर्धमान हैं और त्राण (रक्षा) करनेवाले हैं। **प्रचेताः**=आप प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं। इस प्रकृष्ट ज्ञान के कारण ही आप की प्रत्येक क्रिया जीव की वृद्धि का कारण है। ४. **तुथः असि**=(to have authority or power) आप ही ईशान हो, (to be strong) आप शक्तिशाली हो, (to get) आप सभी को प्राप्त हुए-हुए हो, (to increase) सदा वर्धमान हो, (to go, move) सम्पूर्ण गति के देनेवाले हो, (to strike) अन्त में सारे संसार का संहार करनेवाले हो और **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण

धनोंवाले आप ही हो।

भावार्थ—प्रभु सब वैभवोंवाले, सर्वसंसारवाहक, शीघ्र गतिवाले व सदा वृद्ध हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ऋतधाम स्वर्ज्योतिः

उशिगसि कविरङ्गारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः॥३२॥

१. हे प्रभो! आप **उशिक् असि**=(वष्टि) सब जीवों का भला चाहनेवाले हैं, **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) सृष्टि के आरम्भ में ही सम्पूर्ण ज्ञानों के देनेवाले हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही आप कल्याण करते हैं। देवों के रक्षण का प्रकार यह है कि जिसका हित चाहते हैं, उसे सद्बुद्धि प्राप्त कराते हैं। २. **अङ्गारिः असि** =(अंहसां अरिः) आप पापों के शत्रु हैं और इस प्रकार **बम्भारिः**=(बिभर्ति विश्वम्) विश्व का पालन करनेवाले हैं। विश्व का सच्चा पालन तो पाप-नाश से ही होता है। किसी व्यक्ति का सच्चा भरण यही है कि उसकी पापवृत्ति को दूर कर दिया जाए। ३. **अवस्यूः असि**=(अवः अन्नमिच्छति, रक्षणं वा) आप सबके लिए अन्न चाहनेवाले हैं। इस अन्न के द्वारा सबका रक्षण चाहते हैं और **दुवस्वान्**=हविष्मान् हैं (दुव इति हविर्नाम)। वस्तुतः जब हम इन देवों से प्राप्त अन्नों को हविरूप बनाकर यज्ञ में आहुति देते हैं तब ये देव उन हवियों से भावित होकर हमें फिर अन्न प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें अन्न प्राप्त कराने के लिए हवि देनेवाला बनाते हैं। ४. **शुन्ध्यूः असि** =(शुद्धः, शुन्धयति) आप पूर्ण शुद्ध हैं, और अतएव **मार्जालीयः**=(मार्ष्टि) शुद्ध करनेवाले हैं। ५. **सम्राट् असि** =(सम्यग्राजते) आप अपनी शक्ति से देदीप्यमान हैं और **कृशानुः**=(शत्रुं कर्शयति) शत्रुओं के क्षीण करनेवाले तथा (कृशम् आनयति) दुर्बलों को प्राणित करनेवाले हैं। शक्ति के दो सुन्दर प्रयोग हैं। (क) शत्रुओं को कृश करना तथा (ख) निर्बलों को प्रोत्साहित करना। ६. **परिषद्यः असि**=(परि सीदन्ति इति, तेषु साधुः) चारों ओर होनेवालों में उत्तम हैं। दिशा-काल-आकाश आदि हमारे चारों ओर होनेवाले पदार्थों में प्रभु उत्तम हैं। ये हमारे चारों ओर होकर हमें मृत्यु से बचाते हैं, **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। जब उपासक अपने को प्रभु में अनुभव करता है तब उसकी पापवृत्ति शान्त हो जाती है।

७. **नभः असि**=(नभ्=to kill, nip) आप सब विघ्नों की हिंसा करनेवाले हैं और **प्रतक्वा**=प्रकृष्ट गतिवाले हैं। प्रभु उपासकों के मार्ग के विघ्नों को हिंसित करके उन्हें उन्नति-पथ पर आगे ले-चलते हैं। ८. **मृष्टो असि**=(मृष् तितिक्षायाम्) अत्यन्त सहनशील हैं और **हव्यसूदनः**=(सूदः+पाचकः) दानपूर्वक अदन के योग्य पदार्थों के पकानेवाले हैं। वस्तुतः हव्य पदार्थों के प्रयोग द्वारा हमें सहनशील बनना है। ८. **ऋतधामा असि**=ऋत के आप धारण करनेवाले हैं और **स्वर्ज्योतिः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति हैं। जो भी ऋत का पालन करता है वह ज्योतिर्मय जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—हे प्रभो! 'उशिग्' आदि शब्दों से आपका स्मरण करता हुआ मैं भी वैसा ही बन पाऊँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

ऋत के दो द्वार

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽअजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वाक्त्वैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्तापमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्॥३३॥

१. हे प्रभो! आप **समुद्रः असि**=(समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात्—द०) सब भूतों के उत्पत्तिस्थान हैं **विश्वव्यचाः**=(विश्वस्मिन् व्यचो व्याप्तिर्यस्य—द०) आप सर्वत्र व्याप्तिवाले हैं। अथवा (सर्वे देवाः सम्यग् उत्कर्षेण द्रवन्ति अत्र—म०) सब देवता उत्कर्ष से आपमें ही सम्यग् गति करते हैं और (विश्वं यज्ञं व्यचति गच्छति) सब यज्ञों को आप ही प्राप्त होनेवाले हैं अथवा (सह मुद्रया) आप सदा आनन्दसहित हैं, क्योंकि आप सर्वव्यापक हैं। 'जितनी-जितनी व्यापकता उतना-उतना आनन्द' यही नियम है। २. **अजो असि**=हे प्रभो! आप अज हैं (यो न जायते) आप कभी उत्पन्न नहीं होते अथवा (अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाले हैं। **एकपात्**=आप ही मुख्य गति देनेवाले हैं अथवा (एकस्मिन् पादे विश्वं यस्य—द०) आपके एक ही चरण में यह सारा विश्व है। ३. **अहिः असि**=(अह व्याप्तौ) आप समस्त विद्याओं में व्यापनशील हैं, **बुध्न्यः**=और सब संसार के मूल में हैं, अर्थात् सर्वाधार हैं। **वाक् असि**=आप ही वाणी हैं अथवा (वक्ति) सब ज्ञानों का उपदेश देनेवाले हैं। **ऐन्द्रम् असि**=इन्द्र—जीव—का हित करनेवाले हैं **सदः**=सबके अधिष्ठान **असि**=हैं। आपमें अधिष्ठित होकर ही सब चराचर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि **ऋतस्य द्वारौ**=ऋत के द्वार **मा**=मुझे **मा सन्तापम्**=सन्तप्त न होने दें। 'विद्या+श्रद्धा' ये दो ऋत के द्वार हैं। अकेली विद्या लङ्गड़ी है तो अकेली श्रद्धा अन्धी है। ये दोनों अलग-अलग अनृत हैं—मनुष्य के सन्ताप का कारण बनती हैं। दोनों एक दूसरे की पूर्ति करती हुई ये 'ऋत' बन जाती हैं। ये उस 'ऋत' परमात्मा का द्वार हो जाती हैं और मनुष्य को किसी भी प्रकार सन्तप्त नहीं होने देती। **अध्वपते**=हे मार्गों के रक्षक प्रभो! **अध्वनाम्**=(अध्वनां मध्ये वर्त्तमानम्—म०) मार्गों पर चलनेवाले **मा**=मुझे **प्रतिर** =सब विघ्नों से पार कीजिए। **अस्मिन् देवयाने पथि**=इस देवयान मार्ग पर चलते हुए **मे**=मेरा **स्वस्ति**=कल्याण व उत्तम जीवन **भूयात्**=हो।

भावार्थ—मेरा प्रत्येक कार्य श्रद्धा और विद्या से हो। मैं देवयान मार्ग पर चलता हुआ कल्याण प्राप्त करूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

सगर अग्नियाँ (प्रभुभक्त माता-पिता व आचार्य)

मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात मामग्नयः पिपृत मामग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिꣳसिष्ट॥३४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'यदि हम चाहते हैं कि हमारे जीवन मार्गभ्रष्ट न हों' तो हमारी यही कामना हो कि हमें 'माता-पिता व आचार्य' सब उत्तम मिलें। माता 'दक्षिणाग्नि' है, पिता 'गार्हपत्य' और आचार्य 'आहवनीय'। मनु के शब्दों में ये ही तीन अग्नियाँ उत्तम हैं। ये सब सगराः=(सह गरेण) स्तुतिसहित हों—प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। मधुच्छन्दा

चाहता है कि हे **सगराः अग्नयः**=सदा प्रभु-स्तवन के साथ रहनेवाली अग्नियो! **मा**=मुझे **मित्रस्य**=स्नेह की **चक्षुषा**=आँख से **ईक्षध्वम्**=देखो। **सगराः स्थ**=आप सदा प्रभु-स्तुति के साथ रहनेवाले होओ। प्रभु की ओर झुकाववाले आचार्य निश्चय से हमारे जीवनों को सुन्दर बना पाएँगे। हम सदा इनके प्रिय बने रहें, जिससे वे हमारे जीवनों का ठीक निर्माण कर सकें। २. **सगरेण नाम्ना**=स्तुतियुक्त नम्रता से और **रौद्रेण अनीकेन**=(रुत् र) उपदेश देनेवाले मुख से या=(splendour, brilliance) तेज से हे **अग्नयः**=अग्नियो (माता-पिता, आचार्यो)! **मा पात**=मेरी रक्षा करो। हे अग्नियो! **मा पिपृत**=मेरा पालन व पूरण करो। **गोपायत मा**=मेरा रक्षण करो। मेरे शरीर को रोगों से, मन को वासनाओं से और मस्तिष्क को कुविचारों से बचाओ। मेरा मन स्तुति व नम्रता से पूर्ण हो (सगरेण नाम्ना), मेरा मस्तिष्क ज्ञान से भरा हो (रौद्रेण) और मेरा शरीर तेजस्वी हो (अनीकेन)। ३. हे अग्नियो! **वः**=आपके लिए **नमः अस्तु**=हमारा मस्तक सदा नत हो। हम सदा 'माता-पिता आचार्य' के प्रति नतमस्तक बने रहें। **मा**=मुझे **मा**=मत **हिंसिष्ट**=हिंसित होने दो। इन अग्नियों की कृपा से मेरे शरीर, मन व मस्तिष्क में सदा अग्नित्व=आगे बढ़ने की वृत्ति बनी रहे। मैं सदा शारीरिक, मानस व मस्तिष्क सम्बन्धी उन्नति करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु के उपासक 'माता-पिता आचार्य' को प्राप्त करूँ। उनके द्वारा मेरे जीवन में स्तुति, नम्रता, ज्ञान व तेजस्विता का सञ्चार हो। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी उन्नत हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

विश्वरूप ज्योति

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाꣳसमित्। त्वꣳसोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यऽउरु यन्तासि वरूथꣳस्वाहा जुषाणोऽअप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा॥३५॥

'गत मन्त्र के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य के सम्पर्क में आनेवाला यह 'मधुच्छन्दा' शरीर में 'सोम' की रक्षा के द्वारा कैसा बनता है?' इसका वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। १. हे सोम! तू **विश्वरूपं ज्योतिः असि**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला ज्ञान है। यह सोम की रक्षा करनेवाला सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। २. **विश्वेषां देवानां समित्**=यह सुरक्षित सोम सब दिव्य गुणों को दीप्त करनेवाला होता है। सोम की रक्षा होने पर मन में द्वेषादि बुरी वृत्तियाँ उत्पन्न ही नहीं होतीं और दिव्य गुणों का विकास होता है। ३. हे सोम! **त्वम्**=तू **तनूकृद्भ्यः**=(तनूं कृन्तन्ति) शरीर को छिन्न-भिन्न करनेवाले **अन्यकृतेभ्यः**=दूसरों के विषय में या दूसरों से किये गये (अन्येषु अन्यैः वा कृतेभ्यः) **द्वेषोभ्यः**=द्वेषों से **उरु**=खूब **यन्ता**=रोकनेवाला **असि**=है। सोम का पान करनेवाला द्वेष पर क़ाबू पा लेता है। सोमरक्षा के अभाव में मनुष्य औरों से द्वेष करनेवाला बनता है और अपने ही शरीर को छिन्न-भिन्न कर लेता है। ४. यह सुरक्षित सोम **वरुथम्**=रक्षण (cover) को **उरु**=खूब **यन्ता**=देनेवाला **असि**=है। यह शरीर को रोगों से बचाता है तो मन को मैल से तथा मस्तिष्क को कुण्ठा से बचानेवाला होता है। **स्वाहा**=(सु+आह) यह बात कितनी सुन्दर कही गई है? ५. **जुषाणः**=सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ, अर्थात् बड़े उत्साह से शरीर में सोम को सुरक्षित करता हुआ यह मधुच्छन्दा **अप्तुराज्यस्य**=(अप्तु=सोम, शरीर में व्याप्त होनेवाला, आज्यं=तेजः—तै० १।६।३।४) शरीर में व्याप्त होनेवाले सोम के तेज

को **वेतु**=(वी गति) प्राप्त हो। **स्वाहा**=इस कार्य के लिए वह अधिक-से-अधिक (स्व का हा) आत्मत्याग करे। सब आरामों को छोड़कर तपस्वी बने।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम ज्ञान को बढ़ाता है, दिव्य गुणों को दीप्त करता है, द्वेष से दूर करता है। शरीर, मन व बुद्धि सभी को सुरक्षित करता है। तेजस्वी बनाता है। मधुच्छन्दा की ये ही उत्तम इच्छाएँ हैं। उसकी ये सब इच्छाएँ सोम के अनुग्रह से पूर्ण होती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

कुटिलता व पाप से दूर

अग्ने॒ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒येऽअ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हु॒रा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम॥३६॥

१. गत मन्त्र का मधुच्छन्दा सोमरक्षा द्वारा सब बुराइयों को दूर करके 'अगस्त्य'=पाप का संहार करनेवाला बनता है और प्रभु से आराधना करता है कि—हे **अग्ने**=सर्वनेतः परमात्मन्! **अस्मान्**=हमें **राये**=धनों की प्राप्ति के लिए **सुपथा**=उत्तम मार्ग से **नय**=ले-चलिए। २. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमारे **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=कर्मों को व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। ज्यों ही कोई अशुभ विचार हममें उत्पन्न हो आप उसे उसी समय हमसे पृथक् करें, जिससे वह कार्य का रूप धारण करे ही नहीं। ३. आप **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता को तथा **एनः**=पाप को **युयोधि**=दूर कीजिए (यु=अमिश्रण)। पाप व कुटिलता हमारे पास फटकें ही नहीं। ४. इसी उद्देश्य से हम **ते**=तेरे लिए **भूयिष्ठाम्**=बहुत ही अधिक **नमः उक्तिम्**=नमस्कार के कथन को **विधेम**=करते हैं (विधेम वदेम—द०) अथवा कहते हैं। आपके लिए किया गया यह सतत नमन व नाम-स्मरण हमें अशुभ मार्गों से रोकनेवाला होगा।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपका सतत स्मरण करें और कभी कुटिलता व पाप से धन न कमाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

संग्राम विजय

अ॒यं नो॑ऽअ॒ग्निर्वरि॑वस्कृणोत्व॒यं मृधः॑ पु॒रऽए॑तु प्रभि॒न्दन्।
अ॒यं वाजा॑ञ्जयतु॒ वाज॑सातावय॒ꣳशत्रू॑ञ्जयतु॒ जर्हृ॑षाणः॒ स्वाहा॑॥३७॥

पिछले मन्त्र में धन के लिए उत्तम मार्ग से ले-चलने की प्रार्थना थी। उसी प्रसङ्ग को कुछ विस्तार से कहते हैं कि १. **अयं अग्निः**=सब उन्नतियों का साधक यह प्रभु **नः**=हमारे लिए **वरिवः**=(धनम्—म०, उत्तमं रक्षणम्—द०) धन व उत्तम रक्षण को **कृणोतु**=करे, अर्थात् प्रभुकृपा से हम रक्षण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करें। २. **अयम्**=यह प्रभु **मृधः**=हिंसकों को **प्रभिन्दन्**=विदीर्ण करता हुआ **पुरः एतु**=हमारे आगे चले। वे प्रभु हमारा नेतृत्व करें। प्रभुकृपा से हम शत्रुओं का विदारण करते हुए आगे और आगे बढ़ते चलें। ३. **अयम्**=ये प्रभु **वाजसातौ**=संग्रामों में अथवा शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **वाजान्**=अन्नों का **जयतु**=विजय करें। प्रभुकृपा से हम अन्नों को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न हों। हमारी

निर्धनता अन्नाभाव का कारण बनकर हमारी समाप्ति का कारण न बन जाए। ४. **अयम्**=ये प्रभु ही हमारे लिए **जर्हृषाणः**=अत्यन्त हर्ष का हेतु होते हुए **शत्रून् जयतु**=हमारे शत्रुओं का विजय करें। प्रभुकृपा से हम शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। ५. **स्वाहा**=इन सब बातों के लिए मैं स्व+हा=पूर्णरूपेण अपना त्याग करनेवाला बनूँ। 'स्व' का त्याग ही मुझे प्रभु का प्रिय बनाएगा और प्रभुकृपा से मैं (क) धन प्राप्त करूँगा, (ख) हिंसकों का विदारण कर सकूँगा, (ग) अन्नों का विजय करनेवाला बनूँगा और (घ) शत्रुओं को जीतूँगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हम सब प्रकार की विजय प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्वयं कर

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥३८॥

१. अगस्त्य की इस प्रार्थना को सुनकर कि 'यह अग्नि हमारे लिए धनों व शत्रुओं को जीते' प्रभु कहते हैं कि हे **विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! तू **उरु**=खूब ही **विक्रमस्व**=विक्रम कर, पुरुषार्थ कर। प्रभु का साहाय्य तो तुझे तभी मिलेगा जब तू स्वयं शरीर, मन व मस्तिष्क की त्रिविध उन्नति में प्रवृत्त होगा। २. प्रभु पुनः कहते हैं कि **नः क्षयाय**=हमारे निवास के लिए **उरु कृधि**=हृदय को विशाल बना। विशाल हृदय में ही पवित्रता के कारण प्रभु का निवास होता है। ३. हे **घृतयोने**=घृतरूप योनिवाले जीव! तू **घृतम्**=घृत **पिब**=पी। **'घृत'** शब्द में दो भावनाएँ हैं (क) क्षरण=मलों का दूर होना, (ख) दीप्ति। शरीर की उन्नति के लिए मलों का दूर होना आवश्यक है। शरीर में मलों का सञ्चय होने पर ही रोग उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क का विकास ज्ञान की दीप्ति से होता है। एवं, जीव 'घृतयोनि' है—मलों का क्षरण व ज्ञान-दीप्ति ही उसके शरीर व मस्तिष्क की उन्नति के कारण हैं, अतः शारीरिक व बौद्धिक उन्नति के लिए घृत का पान करना आवश्यक है। घृतपान का अभिप्राय यही है कि सदा मलों के क्षरण का ध्यान किया जाए और ज्ञानदीप्ति को प्राप्त किया जाए। ४. इस प्रकार हृदय को विशाल बनाकर, शरीर के मलों का क्षरण करके और बौद्धिक विकास करके हे **विष्णो**=तीन कदमों को रखनेवाले जीव! तू **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के पति प्रभु को **प्रप्रतिर**=अपने अन्दर खूब ही बढ़ा (प्रतिरतिः वर्धनार्थः)।

भावार्थ—हम विष्णु बनें। हृदय को विशाल, शरीर को निर्मल व बुद्धि को दीप्त बनाकर अपने हृदय में उस यज्ञपति प्रभु को आसीन करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—सोमसवितारौ। **छन्दः**—साम्नीबृहती[क], निचृदार्षीपङ्क्तिः[ख]। **स्वरः**—मध्यमः[क], पञ्चमः[ख]॥

लोकसेवा व बन्धनविच्छेद

[क]देव सवितरेष ते सोमस्तꣳरक्षस्व मा त्वा दभन्। [ख]एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ऽउपागाऽइदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये॥३९॥

१. गत मन्त्र में दिये गये प्रभु के आदेश को सुनकर अगस्त्य प्रार्थना करता है कि हे **सवितः देव**=सबके उत्पादक व प्रेरक देव! **एषः सोमः**=यह सोम—शरीर में आहार से रस-रुधिरादि के क्रम से उत्पन्न होनेवाली यह शक्ति **ते**=तेरी प्राप्ति के लिए ही है। **तं**

रक्षस्व=कृपा करके उस सोम की आप ही रक्षा कीजिए। ये वासनाएँ मुझे तो दबा लेती हैं और इनसे दबने पर मेरे लिए इस सोम का रक्षण सम्भव नहीं होता। कामदेव को आप ही भस्म करेंगे तभी सोमरक्षा सम्भव होगी। ये वासनाएँ **मा**=मत **त्वा**=आपको **दभन्**=हिंसित करनेवाली हों। २. इस प्रकार प्रभु से सोमरक्षण के लिए प्रार्थना करके अगस्त्य सोम को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले सोम! **एतत्**=यह **त्वम्**=तू ही **देवः**=प्रकाशमय है, ज्योति का कारण है। तू **देवान् उप अगाः**=सब देवों को हमारे समीप प्राप्त करा—हमें सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बना। ३. **इदमहम्**=यह मैं **रायस्पोषेण सह**=धन के पोषण के साथ **मनुष्यान् उपागाः**=मनुष्यों के समीप प्राप्त होता हूँ और **स्वाहा**=उनके कष्टों को दूर करने के लिए अपने **स्व**=धन का **हा**=त्याग करता हूँ। यहाँ मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि लोकसेवा के लिए भी धन की आवश्यकता है। ४. इस प्रकार लोकसेवा करता हुआ मैं **वरुणस्य**=वरुण के **पाशात्**=पाश से **निर्मुच्ये**=निर्मुक्त होता हूँ। वरुण के बन्धनों से छूटता हूँ। बन्धनमुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता हूँ। वस्तुतः लोकसेवा ही मोक्ष का साधन है।

भावार्थ—(क) प्रभुकृपा से मैं सोम की रक्षा करता हूँ। (ख) सोमरक्षा से दैवी सम्पत्ति का वर्धन होता है। (ग) मैं धनार्जन करके मनुष्यों के दुःख-दूरीकरण में धन का विनियोग करता हूँ। (घ) और बन्धनों से मुक्त होकर 'ब्रह्मनिर्वाण' को प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

व्रत-पूरण (पूर्ति)

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियꣳसा मयि। यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमꣳस्तानु तपस्तपस्पतिः॥४०॥

१. पिछले मन्त्र में पाशमुक्त होने का उल्लेख है। इस पाशमुक्ति के लिए इसी अध्याय के छठे मन्त्र में व्रत-ग्रहण की अनुमति ली थी। अब उद्देश्य पूरा हो जाने पर ऐसा कहते हैं कि प्रभु ने मुझे व्रत-पालन की अनुमति दी। प्रभु के साहाय्य से मैंने व्रतों का पालन किया और मुझे मोक्ष का लाभ हुआ। २. मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **व्रतपाः**=आप व्रतों का पालन करनेवाले हो। वस्तुतः व्रतों का पालन करनेवाला ही आगे बढ़ा करता है। ३. हे प्रभो! **ते**=आपमें रहनेवाले व्यक्ति ही **व्रतपाः** =व्रतों की रक्षा करनेवाले होते हैं। व्रतों को धारण करने से ही प्रभु के अधिक और अधिक समीप होते जाते हैं। **या तव तनूः**=जो तेरा स्वरूप है **एषा सा त्वयि**=यह तुझमें होनेवाला स्वरूप **मयि**=मुझमें **अभूत्** =होता है। **उ**=और **या मम तनूः** =जो मेरा स्वरूप है **इयं सा मयि**=यह मुझमें रहनेवाला रूप **त्वयि अभूत्** =तुझमें होता है। व्रतों के पालन से मैं इस प्रकार ऊपर उठता हूँ कि तुझसे अभिन्न-सा हो जाता हूँ। मैं 'तू' और तू 'मैं' की स्थिति हो जाती है। ४. हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **यथायथं नौ व्रतानि**=हमारे व्रत बिल्कुल ठीक-ठीक हों। **दीक्षापतिः**=व्रत ग्रहण के पति प्रभु ने **मे दीक्षाम्**=मेरे व्रत ग्रहण की **अन्वमंस्त**=अनुमति दी। उस **तपस्पतिः**=तप के पति प्रभु ने **तपः अन्वमंस्त**=तप की अनुमति दी। इस तप के द्वारा ही मैं व्रतों को पूरा कर पाया हूँ।

भावार्थ—प्रभु 'व्रतपा' है। उनका उपासक मैं भी व्रतपा बनूँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'त्रिविक्रम बनना'=तीन मुख्य व्रतों का धारण करना

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥४१॥

गत मन्त्र में 'मैं व्रतपा बन सकूँ' इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि १. हे **विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! **उरु विक्रमस्व**=खूब पुरुषार्थ कर। **नः क्षयाय**=हमारे निवास के लिए **उरु कृधि**=अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बना। तेरे विशाल हृदय में ही पवित्रता के कारण मेरा निवास होगा। २. हे **घृतयोने**=क्षरण या दीप्तिरूप योनिवाले जीव! **घृतं पिब**=तू घृत का पान कर। तेरे शरीर का स्वास्थ्य मलों के ठीक क्षरण पर निर्भर करता है और तेरे मस्तिष्क के विकास के लिए ज्ञान की दीप्ति का महत्त्व है। ३. इस प्रकार (क) तू हृदय को विशाल बनाता है, (ख) शरीर को निर्मल व स्वस्थ और (ग) मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त। यह त्रिविध उन्नति करके तू तीन कदमों का रखनेवाला 'त्रिविक्रम' बनता है। ४. त्रिविक्रम बनकर तू **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के रक्षक उस प्रभु को **प्रप्रतिर**=अपने में खूब बढ़ा। **स्वाहा**=इस यज्ञपति को अपने में बढ़ाने के लिए तुझे 'स्व' का हा=त्याग करना है। वस्तुतः स्वार्थ की आहुति दे डालना ही यज्ञपति का वर्धन करना है।

भावार्थ—हम हृदयों को विशाल बनाएँ। शरीर को निर्मल, नीरोग तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त। इस प्रकार विष्णु बनकर, व्यापक उन्नति करके उस विष्णु के सच्चे उपासक बनें। ये तीन ही हमारे मुख्य व्रत हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आगे बढ़ जाना

अत्यन्याँ२॥ऽअगां नान्याँ२॥ऽउपागामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥४२॥

१. गत मन्त्र में तीन व्रतों का संकेत है। उन व्रतों का पालन ही 'तीन पदों का विक्रमण' हैं। इन तीन कदमों का रखनेवाला मैं **अन्यान् अति अगाम्**=औरों को लाँघ जाता हूँ। अव्रती पुरुष को व्रती सदा लाँघ जाता है। इसका जीवन उत्कृष्ट होता है। मैं **अन्यान्**=(अविदुषो विरुद्धान्—द०) व्रत-पराङ्मुख मूर्खजनों को **न उपागाम्**=न प्राप्त होऊँ। **परेभ्यः**=(उत्तमेभ्यः) श्रेष्ठ पुरुषों से **त्वा**=तुझे **अर्वाक्**=अन्दर ही **अविदम्**=मैंने जाना है। श्रेष्ठ पुरुषों से मुझे यह ज्ञान हुआ है कि आपका दर्शन तो अन्दर ही होना है। **अवरेभ्यः**=इन अवर आचार्यों से भी मैंने यही जाना है कि आप **परः**=पर हैं (बुद्धेरात्मा महान् परः—गीता) आप वाणी व मन का विषय नहीं हैं—आप वाङ्मनसातीत हैं। अथवा **त्वा**=आपको मैंने **अवरेभ्यः अर्वाक्**=समीपों से भी समीप और **परेभ्यः परः** (इति)=दूर से भी दूर **अविदम्**=जाना है। २. **ते त्वा**=उस आपको हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **वनस्पते**=भक्तों के रक्षक प्रभो! **जुषामहे**=हम प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। हम प्रेम से आपकी उपासना करते हैं। **देवयज्यायै**=(देवानां सङ्गतये—द०) दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हम उपासना करते हैं। **देवाः**=सब विद्वान् लोग **देवयज्यायै**=दिव्य गुणों की सङ्गति के लिए ही **त्वा जुषन्ताम्**=तेरी

उपासना करें। ३. **विष्णवे त्वा**=हे प्रभो! मैं आपको इसलिए उपासित करता हूँ कि आपकी उपासना से मेरा शरीर स्वस्थ होता है, मन निर्मल तथा बुद्धि दीप्त होती है। इन्हीं तीन कदमों को रखकर ही मैं 'त्रिविक्रम विष्णु' बनता हूँ। ३. **ओषधे**=हे दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! **त्रायस्व**=आप मेरा त्राण कीजिए। **स्वधिते**=(स्व= आत्मीय) हे अपनों का धारण करनेवाले प्रभो! **एनम्**=इस अपने भक्त को **मा** =मत **हिंसीः**=हिंसित होने दीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्दर ही हैं। उनकी उपासना से (क) दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। (ख) व्यापक उन्नति हो पाती है। (ग) आसुर आक्रमणों से हमारी रक्षा होती है और (घ) हम प्रभु के आत्मीय बन जाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सहस्त्रवल्श विरोहण

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिꣳसीः पृथिव्या सम्भव। अयꣳहि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय। अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्त्रवल्शा वि वयꣳरुहेम॥४३॥

पिछले मन्त्र में आगे बढ़ जाने की भावना थी। आगे बढ़ जाने के भाव को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि १. **द्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक का **मा लेखीः**=विदारण मत कीजिए। हमारा मस्तिष्क सदा ठीक बना रहे। इसके सोचने की दिशा ग़लत न हो। २. **अन्तरिक्षं मा हिंसीः**=हमारे हृदयान्तरिक्ष को मत हिंसित कीजिए। यह वासनाओं का शिकार न हो जाए। इस हृदयान्तरिक्ष में वासनाओं की आँधियाँ न उठने लगें। ३. तू **पृथिव्या सम्भव**=इस शरीररूप पृथिवी के साथ उत्तमता से सङ्गत हो, अर्थात् हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारा शरीर स्वस्थ हो और हम इस मानवदेह में आपका दर्शन करनेवाले बनें। ४. अगस्त्य की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि **स्वधितिः**=आत्मीयों का धारण करनेवाला **अयम्**=यह मैं **हि**=निश्चय से **तेतिजानः**=तेरे मस्तिष्क को खूब तीक्ष्ण बनाता हुआ **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **प्रणिनाय**=तुझे प्राप्त कराता हूँ। त्रिविध उन्नति का होना ही सर्वमहान् सौभाग्य है। ३. अगस्त्य फिर प्रभु से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे **देव वनस्पते**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! भक्तों के रक्षक! प्रभो! **त्वम्**=आप **अतः**=इस मेरे शरीरादि से **शतवल्शः**=सैकड़ों शाखाओंवाले होकर **विरोह**=बढ़िए (विविधतया प्रादुर्भव—द०) आपको मैं सैकड़ों रूपों में देखूँ। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आपकी विभूति का अनुभव करूँ और आपकी कृपा से **सहस्त्रवल्शाः वयं विरुहेम**=सहस्त्रों शाखाओंवाले होकर हम विशेषरूप से बढ़ें। हम अपने जीवनों में अनन्त शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

भावार्थ—हम अपने में प्रभु का प्रादुर्भाव करें और प्रभुकृपा से हमारी शक्तियों का सहस्त्रशः प्रादुर्भाव हो।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥